Chapter. 2

द्वितीय अध्याय

भारतीय नाट्य परम्परा और मैथिली नाटक ।

द्वितीय अध्याय

भारतीय नाट्य परम्परा और मैथिली नाटक

काव्य की विवेचना करते समय हमारे समक्ष उसके दो भेद आते हैं - एक श्रव्य काव्य और दूसरा दृश्य काव्य। श्रव्य काव्य सुनने या पढ़ने की वस्तु है ; इसमें श्रवणेन्द्रिय द्वारा हृदय और बुद्धि का सम्पर्क काव्य के साथ होता है। दृश्य काव्य प्रधानतया देखने की वस्तु है ; इसमें चाक्षुष प्रत्यक्ष के द्वारा सामाजिकों को रसानुभूति होती है, वैसे इसमें भी पात्रों के कथोपकथन में श्राव्यत्व गुण रहता ही है। इससे प्रकट है कि श्रव्य काव्य रंगमंच का न होकर अध्ययन कक्ष की वस्तु है, जब कि दृश्य काव्य रंगमंच पर अभिनीत होकर सामाजिकों का मनोरंजन द्वारा तथा इसके साथ ही पठन एवं श्रवण द्वारा उन्हें रसानुभूति करता है। यही दृश्य काव्य रूपक (Drama) कहलाता है। काव्य की विधाओं में यह अत्यंत असाधारण, गहन तथा आकर्षक विधा है। क्यों कि जैसा कि नाट्य शास्त्रकार भरत मुनि का कथन है कि इसमें सभी विधाओं का समावेश हो जाता है। सभी प्रकार की कलाओं, विद्याओं, श्रुतियों, शिल्पों, कर्मों और योगों का एकही स्थान पर बैठ कर एक साथ ही आनन्द लिया जा सकता है अथवा इसमें उन सभी का समाहार रहता है।[1] विश्वजनीन चित्ताकर्षण तथा जनसंकुलता के साथ रंगमंचीय भौतिकवादी जगत से इसका गहरा संबंध है, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार से इसी रंगमंच पर निर्भर करता है। इससे राष्ट्रीय चेतना तो जागृत होती है, किन्तु साथ ही यह अपने उद्देश्य तथा गुणग्राहिता में इतना सामाजिक है कि हमेशा अतिशय परिहास, प्रहसन या स्वांग तक उतरने के लिये भी उद्यत रहता है। किन्तु फिर भी यह सरलता एवं उत्तमता से काव्यात्मक प्रेरणा के उस

---

१. न तच्छ्रुतं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म यन्नाट्येऽस्मिन्न दृश्यते।।
नाट्य शास्त्र १-११६

देदीप्यमान उच्चतम शिखर तक पहुंच जाता है कि असंदिग्ध रूप से हमारे समस्त मानव-ज्ञान के काव्यात्मक परिणामों में अत्यंत रोचक रूप में उपस्थित होता है । अनादिकाल से ही यह विधा जन जीवन के बीच सर्वाधिकप्रिय रही हैं ।[१] इसका साहित्यिक मूल्यांकन करते समय, हमारे यहां के आचार्योंने मुक्त कंठ से "काव्येषु नाटकं रम्यं" कहकर इसकी महत्ता को स्वीकार किया है ।

रूपक और ड्रामा (Drama) शब्द का तात्पर्य -----

अंग्रेजी में जिस अर्थ में ड्रामा (Drama) शब्द का प्रयोग होता है, उस अर्थ में संस्कृत साहित्य में रूपक शब्द का प्रयोग पाया जाता है । आजकल ड्रामा शब्द नाटक के अर्थ में रूढ़ हो गया है जो रूपकों के दस भेदों में से एक प्रमुख भेद है । वैसे तो प्रत्येक काव्य या कला के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति मानी जा सकती है ; किन्तु जहां तक रूपक का प्रश्न है, उसमें अनुकरण की प्रवृत्ति स्पष्टत: परिलक्षित होती है । रूपक शब्द का प्रयोग हमारे यहां दो अर्थों में हुआ है - एक तो दृश्य काव्य के रूप में और दूसरा अलंकार के रूप में । इन दोनों ही स्थलों पर आरोप ही करना पड़ता है । रूपक में केवल बाह्य प्राकृतिक उपादानों का ही अनुकरण नहीं किया जाता, अपितु उसमें मानव की अन्त: प्रकृति, मनोभावों, संवेगों, चेष्टाओं आदि की भी अनुकृति पायी जाती है । भरत मुनि के शब्दों में "सप्तद्वीपों तथा तीनों लोकों की वृत्तियों एवं भावों का अनुकीर्तन इस रूपक के माध्यमे से किया जाता है ।"[२] दशरूपककार धनंजय ने भी अवस्था के अनुकरण को ही नाट्य कहा है, तथा उसीको रूपककी भी संज्ञा दी हैं, क्योंकि उसमें आरोप पाया जाता

---

१. The Theory of Drama P.9

२. त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानु कीर्तनम् । १०७
लोकवृत्तानुऽकरणं नाट्यमे तन्मया कृतम् । ११२
सप्तद्वीपानु करणं नाट्यमेतन्भविष्यति । ११४ — प्रथम अध्याय ।

३

है । उनके अनुसार, जिस प्रकार इन्द्र, पुरन्दर, शक्र तीनों नामों से पुकारे जाते हैं, उसी प्रकार एक ही अर्थ में नाट्य, रूप तथा रूपक तीनों शब्दों का प्रयोग होता है ।[१]

भारतीय आचार्यों के समान पाश्चात्य आचार्योंने भी प्रत्येक कला के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति को स्वीकार किया है । अरस्तूने कला को अनुकरण कहकर इसी का समर्थन किया है । सिसरो (Cicero) ने ड्रामा की व्याख्या करते हुए लिखा है कि नाटक जीवन की प्रतिलिपि है ; आचारों, व्यवहारों और रीतियों का दर्पण है तथा सत्य का प्रतिबिंब है । [२]

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए ह्यूगो (Hugo) ने अपना मंतव्य दिया है कि वास्तव में नाटक वह दर्पण है जिसमें प्रकृति परावर्तित होती है । किन्तु यदि यह दर्पण साधारण दर्पण है और उसकी सतह समतल तथा पालिश युक्त है तो वह वस्तुओं का क्षीण प्रतिबिंब ही अंकित कर सकेगा जिसमें किसी प्रकार का आनन्द नहीं होगा --- वह प्रतिबिंब सत्य अवश्य होगा परन्तु रंगहीन रहेगा क्योंकि यह भली भांति विदित है कि साधारण परावर्तन में रंग और प्रकाश दोनों विलीन हो जाते हैं । अतएव नाटक को संगमकारी (focussing) दर्पण होना चाहिये जिसके द्वारा रंगीन रश्मियां, बलहीन होने की अपेक्षा, एकत्रित

---

१. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं, रूपं दृश्य तयोच्यते ।
रूपकं तत्समारोपात् ।
टीका-- तदेव नाट्यं दृश्यमानतया रूपमित्युच्यते नीलादि रूपवत् ।
नटे रामाद्यवस्थारोपेण वर्तमानत्वा द्रूपकं मुखचंद्रादिवत्
इत्येकस्मिन्नर्थे पवर्तमानस्य शब्द त्रयस्य इन्द्र पुरन्दरः,
शक्रः इतिवत्प्रवृत्ति निमित्त भेदो दर्शितः ।
दश रूपक १-७

२. Drama is a copy of life, a mirror of custom, a reflection of truth.
(The Theory of Drama P.24)

और संघटित होकर शिखा को प्रकाश में और प्रकाश को ज्वाला में परिवर्तित कर सकें तभी नाटक को कला कहलाने की सार्थकता हो सकती है ।[१] कौलरिज ने नाटक के संबंध में अपना विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि नाटक जीवन की प्रतिलिपि अथवा प्रतिकृति नहीं, किन्तु वह प्रकृति की अनुकृति मात्र है ।[२]

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि पाश्चात्य अनुकरण का सिद्धान्त काव्य के बाह्यांग को ही स्पर्श करते हुए चलता है, किन्तु भारतीय सिद्धान्त अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही पक्षों का समावेश करते चलता है । इसलिये यदि एक सिध्यान्त स्थूल है, तो दूसरा सूक्ष्म और व्यापक । इन सिध्यान्तों के अवलोकन के पश्चात् यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक कला के मूल में और विशेषकर नाटक के मूल में अनुकरण की प्रवृत्ति शाश्वत, सर्वदेशीय और सार्वकालिक है । इस सैध्यान्तिक निदर्शन के पश्चात् यहां नाट्य की उत्पत्ति पर संक्षेप में विचार कर लेना आवश्यक होगा ।

नाट्योत्पत्ति -------

गीता में एक श्लोक[3] आता है कि भूतों की उत्पत्ति और समाप्ति अव्यक्त ही रहती है केवल उनका मध्य व्यक्त रहता है ।

---

१. -----But if this mirror be an ordinary mirror, a flat and polished surface, it will provide but a poor image of the objects, without relief-faithful, but colourless ; it is well known that colour and light are lost in a simple reflection. The drama, therefore, must be a focussing mirror, which, instead of making weaker, collects and condenses the coloured rays, which will make of a gleame, a light, of a light a flame. Then only is the drama worthy of being counted an art".
(तुलनीय - पूर्व भारतेन्दु नाट्य साहित्य पृ. ४, Ibid P.27

२. The Drama is not a copy, but an imitation of nature -
(The Theory of Drama P.28)

३. अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्त मध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ।।
गीता २-२८

यही बात प्रत्येक काव्य या कला के विषय में भी कही जा सकती है । नाटक की उत्पत्ति के विषय में अनेक मनीषियोंने विचार किया है, और अपने अपने मतों की स्थापना करते हुए, पुष्टि के लिये अनेक सप्रमाण युक्तियां भी प्रस्तुत की हैं ; तथापि वे अभी तक किसी एक सर्वमान्य तथा सुस्थिर सिद्धान्त की स्थापना करने में असमर्थ ही रहे हैं ।

नाटक की उत्पत्ति के विषय में सब से प्राचीनमत नाट्यशास्त्री के प्रथम अध्याय में उपलब्ध होता है । जिसके प्रणेता के अनुसार नाटक की उत्पत्ति त्रेतायुग में ब्रह्मा के द्वारा हुई । सतयुग में प्राय: लोगों को मनोरंजन के साधनों की आवश्यकता न थी, किन्तु त्रेता में जब इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई और साथ ही शूद्रों के श्रेय की ओर भी ध्यान दिया जाने लगा तो इन्द्रादि देवताओंने जा कर ब्रह्मा से प्रार्थना की कि वे किसी ऐसे पंचम वेद का निर्माण करें जो क्रीडनीयक हो और शूद्रों द्वारा भी जिसका अनुशीलन किया जा सके ; क्यों कि उनके लिये वेदाध्ययन निषिद्ध था । ब्रह्माने देवताओं की प्रार्थना स्वीकार कर ली और ध्यानावस्थित होकर चारों वेदों का स्मरण किया और यह संकल्प किया कि ऐसे पंचम वेद की रचना की जाय जो धर्मानुकूल, यशस्य , संग्रह और उपदेश सहित होगा, भावी जगत के लिये सर्वकर्मों का पथ-प्रदर्शक, सब शास्त्रों के अर्थ से सम्पन्न तथा सभी प्रकार की शिल्पकलाओं का प्रदर्शक होगा । इन कारणों से ब्रह्माने पाठ्य भाग ऋग्वेद से, गीतों को सामवेद से, अभिनयों को यजुर्वेद से और रसों को अथर्ववेद से ग्रहण किया । इस प्रकार इतिहास की रचना कर ब्रह्माने इसको देवताओं के हाथ सौंपदिया ; किन्तु देवों द्वारा नाट्य कर्म में अपनी अक्षमता प्रकट करने पर उन्होंने कैशिकी वृत्ति के लिये - जो केवल स्त्रियों द्वारा ही सुसम्पन्न हो सकता है - सौ अप्सराएं उत्पन्न कर भरत को सौंप दिया कि वे इन्हें तथा अपने सौ शिष्यों को नाट्यकला की व्यावहारिक शिक्षा

दें । विश्वकर्मा को इस के अभिनय के लिये नाट्यगृह निर्माण करने का आदेश दिया गया । इस नाटक में शिवने तान्डव, पार्वतीने लास्य तथा विष्णुने चार वृत्तियां प्रदान कर इसके आकर्षण, सौंदर्यवर्द्धन और सुसम्पन्न होने में सहायता प्रदान की ।[१]

भारतीय परम्परा नाट्योत्पत्ति के विषय में इसी दैवी सिद्धान्त को मान्यता देती है । किन्तु आधुनिक वैज्ञानिक विकास-वादी युग में इस सिद्धान्त की मान्यता नहीं दी जा सकती है । नाट्यशास्त्र में जिन सूक्ष्म और विस्तृत सर्वांगपूर्ण सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है, उनको देखते हुए यह स्वीकार करना पड़ता है कि इस नाट्यशास्त्र के विकास में शताब्दियाँ लग गयी होंगी - इसकी पृष्ठभूमि में अवश्य ही सुदृढ़ और सुविकसित परम्परा रही होगी । अरस्तू[२] के मतानुसार किसी भी पदार्थ का स्वरूप हम को उसके पूर्णतया विकसित होने पर

---

१. पूर्वं कृतयुगे विप्रा वृत्ते स्वायंभुवेऽन्तरे ।
त्रेता युगे संप्रवृत्ते मनोर्वैवस्वतस्य च ।। ८ ।।
महेन्द्र प्रमुखै देवैरुक्त: किल पितामह: ।
क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद्भवेत् ।। ११ ।।
एवमस्त्विति तानुक्त्वा देवराजं विसृज्य च ।
सस्मार चतुरो वेदान योग मास्थाय तत्त्ववित् ।। १३ ।।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेशं संग्रहम् ।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानु दर्शनम् ।। १४ ।।
सर्वशास्त्रार्थ संम्पन्नं सर्व शिल्प प्रवर्तकम् ।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासम् करोम्यहम् ।। १५ ।।
जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणा दपि ।। १७ ।।
आदि, नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय ।

२. नाट्य शास्त्रम् अध्याय - १-३, भूमिका पृ. ३४
अनु. भोलानाथ शर्मा ।

ही ज्ञात हो सकता है। पूर्णतया विकसित रूप के घटक तत्वों का अन्वेषण करते हुए हम उस पदार्थ के प्रारंभिक स्वरूप का भी पता लगा सकते हैं और उसकी उत्पत्ति को भी खोज सकते हैं। यदि हम संस्कृत नाटक के पूर्ण विकसित रूप को लें तो हमको उनमें नृत्य, गीत, अभिनय और संवाद से तत्व प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं तत्वों की खोज हमको भारतीय साहित्य और जीवन में करनी चाहिये और इस बात को यथा संभव खोज निकालना चाहिये कि किस समय इन सब तत्वों के संगम से नाटक का निर्माण हुआ।[१]

भारतीय साहित्य और जीवन की प्राचीनतम निधि के कारण हमारे यहां की प्रवृत्ति सभी बातों का मूल वेदों में खोजने की रही है। भरतमुनिने स्वयं वेदों का उल्लेख कर नाटक का मूल स्त्रोत वेद ही बताया है। अतएव इसी आधार पर विद्वानोंने विभिन्न वेदों तथा अन्य ग्रंथों में इसके मूल तत्वों को खोजने का प्रयास किया है। "जग्राह पाठ्यं ऋग्वेदात्" के संकेत के आधार पर विद्वानोंने छानबीन करके लगभग १५ सूक्तों की सूची प्रस्तुत की है जिन में सम्वाद के तत्व पाये जाते हैं। इन सूक्तों के आधार पर मैक्समूलरने यह मत प्रकाशित किया था कि यज्ञ के अवसर पर मरुतों की प्रार्थना के लिये इन सूक्तों का शंसन किया जाता रहा होगा या संभवत: इन सूक्तों का पाठ अलग-२ दलों द्वारा किया जाता रहा होगा।[२] प्रो.लेवीने भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहा है कि सामवेद इस बात की पुष्टि करता है कि वैदिककाल में संगीतकला पूर्णतया विकसित हो गयी थी। ऋग्वेद का वह वर्णन भी - जिसमें कुमारिकाएं वस्त्रालंकार से सज्जित होकर अपने प्रेमिओं को रिझाने के लिये नृत्य किया करती हैं - इसी बात की पुष्टि करता है। अतएव ऋग्वेद के काल में ही नाटकीय तत्व विदयमान थे, जिनका स्वरूप धार्मिक था और जिनमें पुरोहितगण

---

१. नाट्य शास्त्रम् अध्याय १-३, भूमिका पृ.३४
अनु.भोलानाथ शर्मा।

२. The Sanskrit Drama P.15

देवों तथा ऋषियों की भूमिका धारण कर स्वर्गीय घटनाओं का अभिनय किया करते थे ।[१]

प्रो. श्रोयेदर के मत में ये सम्वाद वैदिककालीन रहास्यात्मक नाटकों के चिन्ह हैं । धार्मिक और लौकिक नाटकों का प्रचलन भारत वर्ष में अति प्राचीनकाल से ही रहा है । धार्मिक परम्परा कर्मकाण्ड आदि रूपों में कुछ दिन रहकर समाप्त हो गयी, किन्तु लौकिक परम्परा सर्व साधारण में यात्रादि के रूप में बहुत समय पश्चात् तक प्रचलित रही । इस रूप के विकास में गंधर्वों तथा अप्सराओं का योग तो रहा ही ; साथ ही विष्णु - कृष्ण और रूद्र-शिव संबंधी मत भी सहायक हुए ।[२] डो. हर्तेलने अपना मत अलग स्थापित करते हुये कहा है कि वैदिक संवाद सूक्तों में रहस्यमय धार्मिक नाटकों के बीज विद्यमान हैं । इस स्थापना का मुख्य आधार यह मान्यता है कि वैदिक सूक्तों का हमेशा गायन ही होता था । विभिन्न गायकों के भेद का प्रदर्शन एक ही गायक द्वारा नहीं हो सकता था, अतएव ऐसे सूक्तों का जिनमें एक से अधिक वक्ता पाये जाते हैं, अनेक पाठकों द्वारा पढ़ा जाना असंभव नहीं । अतएव ये सूक्त नाट्यकला के आदिम रूप कहे जा सकते हैं जिनकी तुलना गीत-गोविन्द से की जा सकती है ।[3] इनके अनुसार यही रूप विकसित हो कर सुपर्णाध्याय में वास्तविक नाटक का रूप धारण कर लेता है, और यही क्रम यात्रा तक रहता है । यद्यपि श्रोएदर तथा हर्तेल दोनों ही वैदिक सम्वाद सूक्तों को रहस्यात्मक धार्मिक नाटक का बीज मानते हैं, किन्तु दोनों में मुख्य अन्तर यह है कि श्रोएदर लौकिक नाटक की धारा वैदिक प्रवाह से अलग किन्तु समान्तर मानता है, जब कि हर्तेल धार्मिक और लौकिक नाटकों के विकास की धारा को अविच्छिन्न रूप में मानता हैं ।

----

१. The Sanskrit Drama P.15-16
तुलनीय - मध्यकालीन नाट्य परम्परा पृ.२

२. The Sanskrit Drama - P.16-17

३. Ibid

मैकडोनलने 'नाच' को नाटक का पूर्वरूप माना है । उनकी कल्पना है कि संस्कृत के 'नट' तथा 'नाटक' शब्द 'नट्' धातु से निकलते हैं, जो संस्कृत के 'नृत्' धातु का ही प्राकृत रूप है ।[१] इस मत को मान लेने में प्राथमिक कठिनाई यह है कि 'नट्' प्राकृत धातु है ही नहीं, क्यों कि इस धातु का प्रयोग इस रूप में प्राकृत साहित्य में नहीं पाया जाता है । प्राकृत कोषा में 'नड़' धातु का प्रयोग है किन्तु 'नट्' का नहीं । अतएव सिद्ध है कि इस धातु का संबंध प्राकृत से नहीं है । प्राकृत साहित्य में 'नट्ट' रूप मिलता है जिसका मूल धातु 'नट्' है । किन्तु इस धातु से 'नाट्' शब्द बन सकता है, 'नट्' नहीं ।[२] दूसरी बात यह है कि संस्कृत में 'नृत्' तथा 'नट्' दोनों भिन्न धातु हैं तथा नाट्य, नृत्त तथा नृत्य तीनों शब्दों का अर्थ भी अलग-अलग है । धनञ्जयने स्पष्ट शब्दों में इन तीनों शब्दों की व्याख्या करते हुये कहा है कि अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं ; नृत्य भावाश्रयी होता है अर्थात् इसमें आंगिक अभिनय की बहुलता रहती है, और नृत्त ताल तथा लय पर आश्रित होता है ।[३] यह बात नीचे की तालिका से बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगी ।

(अ) नृत्त: = साधारण

(आ) नृत्य = नृत्त: + संगीत + साधारण अभिनय । यह भाव पर आधारित होता है ।

(इ) नाट्य = अ + आ + सम्पूर्ण नाटकीय अभिनेयता । यह रस पर आश्रित होता है ।[४]

---

१. हिन्दी दशरूपक की भूमिका पृ. ४ तथा Bibliography of Sanskrit Drama, Quoted in Drama in Sanskrit, Literature P.32

२. Types of Sanskrit Drama P.6

३. वाक्यार्थाभिनयं रसाश्रयं ; अन्यम्दावा श्रयं नृत्यम् ।
नृत्तं तालल्नया श्रयम् । (दशरूपक -१-६)

४. Types of Sanskrit Drama P.32

प्रो. हिलब्रेन्ट और कोनो[१] का मन्तव्य है कि संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति स्वांग या मूक अभिनय से हुई है, क्यों कि सुखान्तक नाटक मनुष्य के आदिम जीवन के आनन्द, हास्य और व्यंग्य की स्वाभाविक अभिव्यकित हैं । इस मत का खंडन अच्छी तरह से डो. कीथने ही कर दिया है ।[२] अत: इसके संबंध में यहां इतना उल्लेख कर देना ही पर्याप्त है । प्रो. पिशेल भारतीय नाटकों की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानते हैं । इनका कहना है कि पुत्तलिका नृत्य का प्रचार भारत में अति प्राचीन काल से है ; महाभारत और कथा सरित्सागर आदि ग्रंथों में इसका विस्तार के साथ वर्णन मिलता है - इस क्लिष्ट कल्पना का आधार सूत्रधार और स्थापक ये दो शब्द हैं । इन शब्दों के वास्तविक अर्थ से अनभिज्ञ रहने के कारण ही पाश्चात्य विद्वानोंने इस प्रकार की उटपटांग कल्पना की है । शारदातनयने सूत्रधार शब्द की व्याख्या करते हुए स्पष्ट बताया है कि सूत्रधार नाटक की कथा वस्तु, **नायक**, रस आदि का सूत्र रूप में - संक्षेप रूप में - वर्णन करता है, इसलिये वह सूत्रधार कहलाता है ।[३] महाभारत में पौराणिक 'सूत' को ही सूत्रधार और **'स्थापति'** कहा गया है । वह गृह-विद्या तथा वास्तु विद्या विशारद होता है ; भवन निर्माण के लिये उपर्युक्त भूमि की परख और उस पर भवन निर्माण की कला का ज्ञान भी उसे होता है । अतएव उसे 'शिल्पागम वेत्ता' भी कहा गया है ।[४] इसी सूत्रधार को स्थापति इसलिये कहा गया क्योंकि वह भवन - भूमिका

----

१. The Sanskrit Drama P.49

२. Ibid P.51

३. सूत्रयन् काव्यनिर्दिष्ट वस्तु नेतृकथा रसान् ।
नान्दी श्लोकेन नान्दयन्ते सूत्रधार इतिस्मृत: ।। भावप्रकाश १०-८

४. स्थपतिर्बुद्धि सम्पन्नो वास्तु विद्या विशारद: ।
इत्यब्रवीत् सूत्रधार: सूत: पौराणिकस्तदा ।।
यस्मिन् देशे च काले च मापनेयं प्रवर्तिता ।
ब्राह्मणं कारणं कृत्वा नायं संस्थास्यते क्रतु: ।।
महाभारत आदिपर्व ५१ - १५-१६

मान चित्र बनता है । प्राय: इसी आधार पर प्राचीन नाटकों में स्थापना का समावेश हुआ होगा ।[१] प्रो. जागीरदार का कहना है कि सूत्रधार का काम बढ़ई से कुछ अधिक है - वह भूमिका भी माप - तौल लेता है । इसी कारण वह सूत्रधार कहलाता है - अर्थात वह सूत - डोरे को पकड़ता है, उस से काम लेता है । इन युक्तियों से प्रो. पिशेल का मत धाराशायी हो जाता है । इस विषय में सब से प्रामाणिक तथ्य तो यह है कि भरतमुनिने नाटक के विषय में कहा है कि जिसमें तीनों प्रकार के अभिनय, विभिन्न लीलाओं और अनेक प्रकार की चेष्टाओं का समावेश हो उसे ही नाटक की संज्ञा दी जा सकती है ।[२] अतएव पुत्तलिका नृत्य से नाटक की उत्पत्ति मानना भ्रमपूर्ण ही कहा जा सकता है ।

प्रो. जागीरदारने "सूत" शब्द के आधार पर अपने सिद्धान्त की स्थापना करते हुए बताया है कि पौराणिक काल के तुरंत बाद ही नाटक की उत्पत्ति हुई [३] और इस उत्पत्ति का मूल कारण पौराणिक 'सूत' ही है । अपने मत की पुष्टि के लिये आपने नाट्यशास्त्र से अनेक सप्रमाण युक्तियाँ भी प्रस्तुत की है । नाट्य शास्त्र में सर्वप्रथम "अमृतमंथन" नामका समवकार और "त्रिपुरदाह" नामक डिम के अभिनय का उल्लेख मिलता है ।[४] समवकार की परिभाषा देते हुये भरतमुनिने कहा है कि

---

१. Drama is Sanskrit Literature P.39

२. एवं बुध: परं भावं सो स्मीति मनसा स्मरन् ।
वागङ्ग गति लीलाभिश्चेष्टाभिश्च समाचरेत् ।। नाट्यशास्त्र ३५-७

३. Thus did Sanskrit drama originated soon after the epics
तुलनीय - G.T.Deshpande San.Drama नामक लेख पृ. १६ Drama in San. Lit. P.42

४. ततो स्म्युक्तो भगवता योजयामृत मन्थनम् ।
एतदुत्साह जननं सुरप्रीतिकरं तथा ।। २ ।।
योयं समवकारस्तु धर्मकामार्थ साधक: ।
मया प्रग्रथितो विद्वन्स प्रयोग: प्रयुज्यताम् ।। ३ ।।
पूर्वं रंगे कृते पूर्वं तत्रायं द्विज सत्तमा: ।
तथा त्रिपुर दाहश्च डिम संज्ञ: प्रयोजित: ।। १० ।।
अध्याय ४

जिसमें देव-राक्षस विषायक वृत्तान्त हो, प्रख्यातोदात्त नायक हो और तीन अंकों का हो तथा जिसमें तीनों प्रकार के कपट - स्वाभाविक, कृत्रिम तथा दैवजन्य, -----, तीनों प्रकार के विद्रव --- चेतनकृत, अचेतनकृत और चेतना चेतनकृत, एवं तीनों शृंगार - धर्म, अर्थ, काम का समावेश हो उसे समवकार कहते हैं ।[१] तात्पर्य यह कि समवकार देव और दानवों का युद्ध प्रस्तुत करता है । इस संबंध में भरतमुनिने स्वयं कहा है कि एक समय ब्रह्मा, कृष्ण और मधु-कैटभ के बीच होनेवाले युद्ध का निरीक्षण कर रहे थे और साथ ही कृष्ण को निर्देश भी करते जाते थे जिसके कारण उन्हें सफलता प्राप्त हुई । युद्ध के समय कृष्ण की विभिन्न आंगिक मुद्राओं का अवलोकन कर ब्रह्मा अत्यंत प्रसन्न हुए और शीघ्र ही चार वृत्तियों के रूप में इन मुद्राओं का समावेश नाट्यशास्त्र में कर दिया ।[२] ये वृत्तियां भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी के नाम से प्रसिद्ध हुईं । पश्चात् भरतमुनिने इन चारों का उत्पत्ति-स्थान चारवेदों को माना है ।[3] भारती वृत्ति की परिभाषा देते हुए भरतमुनि कहा है कि इस वृत्ति में केवल वाक् की प्रधानता होती है, संस्कृत भाषा का ही प्रयोग होता है, केवल पुरूष ही इसमें भाग ले सकते हैं और 'तत्तत पात्र' अपने नाम से ही इस का पाठ करते हैं ।[४] सात्वती वृत्ति में सात्विक आंगिक और वाचिक अभिनय का समावेश रहता है और न्यायपूर्ण वृत्तान्त से युक्त लोकोत्तर हर्ष और शोक के भाव की अन्तर्लीनता रहती है ।[५] कैशिकी वृत्ति में नेपथ्य की रचना

----

१. देवासुर बीजकृत: प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
   त्र्यङ्कस्तथा त्रिकपट स्त्रिविद्रव: स्यात्त्रि शृंगार: ।। १८-६३

२. i नाट्यशास्त्र -
 ii Dramas in Sanskrit Literature P.23
 iii G.T. Deshpande Sans.Drama नाटक लेख पृ.१७

३ से ७ तक -
   ऋग्वेदादभारती क्षिप्ता यजुर्वेदाच्च सात्वती ।
   कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणादपि ।। २५ ।।

विभिन्न वेशभूषा, चित्र, माला आदि से की जाती है, स्त्री पात्रों की बहुलता होती है, नृत्य-गान से युक्त रतिजन्य शृंगार का पूर्ण समावेश रहता है।[६] आरभटी वृत्ति में क्रोधादि आवेगों, छल, कपट, प्रतारण, इन्द्रजाल, विभिन्न प्रकार के चित्र एवं युद्धों का समावेश अनिवार्य रूप से रहता है।[७] इन चारों वृत्तियों का सारांश निम्नलिखित रूप में दिया जा सकता है -----

१. भारती वृत्ति = शुद्ध रूप में पाठ्य या शंसन।

----

३ से ७ चालु -----

या वाक प्रधाना पुरूषा प्रयोज्या
स्त्री वर्जिता संस्कृत पाठ्य युक्ता।
स्वना मथे यैर्भरतैः प्रयुक्ता सा
भारती नाम भवेतु वृत्तिः ।। २६ ।।
या सात्वेतेनेह गुणेन युक्ता
न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृत शोक भावा
सा सात्वती नाम भवेचु वृत्तिः ।। ४१ ।।
वागांगभिनयवती सत्वोत्थान वचन प्रकरणेषु।
सत्वाधिकार युक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः ।। ४२ ।।
या श्लक्ष्णा नैपथ्य विशेष चित्रा
स्त्री संयुता या बहु नृत्त गीता।
कामोपभोग प्रभवोप चारा
तां कैशिकीं वृत्तिमुदा हरन्ति ।। ५३ ।।
बहु वादय नृत्तगीता शृंगाराभिनयचित्र नैपथ्या।
माल्यालंकार युता प्रशस्त वेषा च कान्ता च ।। ५४ ।।
चित्रपदवाक्य बन्धैरलं कृता हसितरूदितारोषाद्यैः।
स्त्री पुरूषा काम युक्ता विज्ञेया कैशिकी वृत्तिः ।। ५५ ।।
आरभट प्रायगुणा तथैव बहु कपट वञ्चनोपेता।
दम्भानृत वचन वती त्वारभटी नाम विज्ञेया ।। ६४ ।।
प्रस्तावपातप्लुतलंघितानि च्छेदयानिमाया कृतमिन्द्र जालम्।
चित्राणि युद्धानि च यत्र नित्यं तां तादृशींमारभटीं वदन्ति ।। ६५ ।।
षाड्गुण्य समारब्धा दृढाति सन्धान विद्रवोपेता।
लाभालाभार्थं कृता विज्ञेया वृत्तिरारभटी ।। ६६ ।।

नाट्य शास्त्र, अध्याय २०

२. सात्वती = पाठ्य के साथ अभिनय ।
३. कैशिकी वृत्ति = नृत्य-गीत के साथ अभिनय (impersonation)
४. आरभटी वृत्ति = पूर्ण सज्जित रंगमंच पर जीवन का वास्तविक और सर्वांग पूर्ण प्रदर्शन ।

ये वृतियां प्रस्तुतीकरण के भिन्न प्रकार ही नहीं हैं अपितु नाटक के विकास की अवस्थाओं की समुचित शृंखलाएं भी है ।[१]

इन चारों वृतियों के साथ पौराणिक "सूत" का संबंध भली भांति स्थापित किया जा सकता है । पुराणों का शंसन ही भारती वृत्ति है, न कि धार्मिक सूक्तों का शंसन ; 'सूत' जब कुशीलव के साथ मिलकर शंसन करता है, उसे सात्वती वृत्ति कहा जा सकता है । कैशिकी वृत्ति में नर्तकी का भी समावेश हो जाता है ; और आरभटी वृत्ति तो जीवन का सर्वांग पूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है । इन कारणों से ही संस्कृत-नाट्य-साहित्य सदा से "सूत" द्वारा शंसित पुराणों से ही अपना नायक और कथानक ग्रहण करता आया है न कि धार्मिक परम्पराओं (Lore) और वैदिक देवों एवं कथानकों से । अतएव पौराणिक "सूत" ही नाटकीय अभिनय का उद्‌भव स्थान है ।[२] यही सूत आगे चलकर सूत्रधार के नाम से प्रसिद्ध हुआ । नाटक का सूत्रधार सामाजिकों को नाटक-कार एवं उसके आश्रयदाता का वर्णन प्रस्तुत करता है, ठीक इसी प्रकार पौराणिक सूत भी देवताओं, ऋषियों और राजाओं की वंशावली तथा अन्य बातें श्रोताओं को बताता है । अतएव केवल परिभ्रमणशील भाट - सूत- ही नाटकीय प्रदर्शन के प्रस्तुतीकरण के लिये उत्तरदायी है ; यह आकस्मिक भी हो सकता है और अनुभव सिद्ध भी ।[३] इन कारणों से पौराणिक काल के तुरंत बाद ही नाटक की उत्पत्ति हुई ।

---

१. Drama in Sanskrit literature P.25
तुलनीय G.T.Deshpande Sans. Drama नाम का लेख पृ.१७

२. Drama in Sanskrit literature P.31

३. Ibid. It was Suta, the wandering minstrel, who must have been responsible, by accident or through experience, for the introduction of dramatic representation P.40

प्रो.ओल्डन बर्गने भी यह स्वीकार किया है कि पौराणिक साहित्य तथा महाकाव्यों का नाटक के विकास में अत्यन्त सहयोग रहा है । यथार्थ में यहां तक कहा जा सकता है कि पुराण या महाकाव्य के शंसन के बिना नाटक का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।[१] इन्हीं मतों का समर्थन करते हुए कीथने कहा है कि हमारे समक्ष इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त नहीं कि वैदिक काल में आवश्यक और महत्वपूर्ण तत्वों का एकीकरण और कथानक का विकास आदि - जो नाटक के निर्माण के लिये अनिवार्य हैं - विदयमान थे । अतएव ऋग्वेद के सूक्त वास्तविक नाटक नहीं प्रस्तुत करते है । इसके विपरीत हमारे समक्ष प्रत्यक्ष और युक्तियुक्त प्रमाण उपलब्ध है कि पुराण और महाकाव्य के शंसन के माध्यम से ही वास्तविक नाटक का उद्भव हुआ और साहित्यिक नाटकों का निर्माण होने लगा ।[२]

प्रो.डी.आर.मांकड के अनुसार नाटक की उत्पत्ति नृत्य से हुई और भाण से रूपकों का और भणिका से उपरूपकों का विकास हुआ है । उनके मतानुसार भाण की विशेषताओं -- नायक और नायिका की बहुलता, स्वगत कथन की अधिकता, वर्णनात्मक शैली, केवल संस्कृत भाषा का प्रयोग और धर्म निरपेक्ष कथानक -- को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि नाट्य रूपों में सब से प्राचीनतम रूप भाण का ही है ।[३] इस प्राचीनतम भाण का भी मूल रूप भणिका को माना जा सकता है । क्योंकि भाणने अपने विकास में कई विशेषताएं भणिका से ग्रहण की है । इस प्रकार भणिका से भाण, वीथी, अंक तथा प्रहसन का और उद्धत भाण से अन्य रूपों का विकास हुआ । अतएव रूपक और उपरूपक के विकास के मध्य में एक आन्तरिक सूत्रात्मकता निहित है ।[४] नृत, जैसा कि भरतमुनि

----

१. The Sanskrit Drama P.27

२. Ibid. P.26

३. Types of Sanskrit Drama P.164

४. Ibid P.149

का कथन है, अपने मूल रूप में दो भागों में विभक्त हुआ - एक ताण्डव अर्थात् उद्धत और दूसरा लास्य अर्थात् मसृण । दोनों का रूप भिन्न होते हुए भी, परस्पर दोनों का मिश्रण भी होता रहता है । रूपकों में से नाटक और प्रकरण को छोड़कर, प्रत्येक को इन भेदों में से किसी एक में रखा जा सकता है । भाण, वीथी, प्रहसन अपने कोमल शृंगार रस तथा मृदु तत्वों (*gentle elements*) के कारण मसृण कहे जा सकते हैं और समवकार, ईहामृग डिम तथा व्यायोग अपने कठोर (*haughty*) रस के कारण उद्धत की श्रेणी में आते हैं । अंक में कोमल करुण रस की प्रधानता रहती है । नाटक और प्रकरण को भी अंगीरस के आधार पर उपरि निर्दिष्ट श्रेणियों में से किसी एक श्रेणी में रखा जा सकता है । नृत्त से किस प्रकार नाट्य रूपों का क्रमिक विकास हुआ, इसे स्पष्ट करने के लिए मांकण महोदयने यह तालिका प्रस्तुत की है ------

नृत्त [१]

ताण्डव
नृत्य
भाण
प्रेक्षणक, उल्लोप्यक, संल्लापक ; शिल्पक (उपरूपक)
रूपक, व्यायोग, समवकार, ईहामृग, डिम ।

लास्य
नृत्य
भणिका
नर्तनक, भाण, डोम्बी, भणिका, प्रस्थानक, हल्लीशक, काव्य, गोष्ठी, कल्पवल्लि, श्रीगदित, दुर्मल्लिका, मल्लिका, विलासिका ।
रूपक
भाण
वीथी
प्रहसन, अंक

--------नाटक और प्रकरण----------------

---

१. Types of Sanskrit Drama P.151

१७

पूर्ववर्ती पृष्ठों के विवेचन के आधार पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हमारा नाट्य साहित्य अति प्राचीन समय में संगीतात्मक ही रहा होगा, पश्चात् उसमें कथोपकथन का भी समावेश हो गया होगा । इन तथ्यों के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के स्वगत कथन और कथोपकथन नृत्य के प्रारंभिक रूप को ही प्रस्तुत करते हैं । अतएव उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नृत्त से ही क्रमिक नृत्य और नाट्य का विकास हुआ है । इस नाट्य के विकास की भी चार अवस्थाएँ हैं -----

१. नाट्य के प्राचीनतम विकास की अवस्था में केवल एक पात्र और एक अंक की ही आवश्यकता थी ।

२. नाट्य के विकास की द्वितीय अवस्था में अनेक पात्र और एक अंक का समावेश था ।

३. तृतीय अवस्था के नाटकों में अनेक अंक प्रस्तुत किये जाने लगे किन्तु कथानक अपेक्षाकृत कम जटिल होता था ।[१]

४. अंतिम अवस्था में आ कर यह पूर्ण नाटक और प्रकरण का रूप धारण कर लेता है और ये दोनों रूप अपने अति विकसित रूप में रूपक के अन्य रूपों को विस्मृत कर देते हैं । आज जो विशाल नाट्य साहित्य हमारे समक्ष है, वह इन्हीं चार विभिन्न अवस्थाओं के सुविकसित परिणाम है । यही क्रमिक विकास हमारे नाट्य साहित्य को अति प्राचीन युग में ले जा सकता है ।

प्रो. चन्द्रप्रकाश सिंह के अनुसार नाटक की उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्ड से तो हुई ही साथ ही इसका नाटक के विकास में बहुत बड़ा सहयोग भी

----

१. Types of Sanskrit Drama P.165

रहा है । "यथार्थ में वैदिक यज्ञ स्वयं सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों को सर्व साधारण के लिये बोधगम्य बनाने के लिये ही प्रचलित किया गया था । ----- जब एक दृष्टि से सारे वैदिक यज्ञों को ही वेद व्यवहार को सार्ववर्णिक बनानेवाला नाटक माना जा सकता है, तो उसके अन्तर्गत आनेवाले सोम क्रयण या महाव्रत आदि क्रियाओं की नाटकीयता में तो कोई संदेह रह ही नहीं जाता । यह बात अवश्य है कि यज्ञ कोरे मनोविनोदकारी नाटक ही नहीं हैं अपितु उनके अन्तर्गत सोम-याग आदि जी उकतानेवाला अनेक प्रकार का धार्मिक कर्मकाण्ड भी आता है और उनका यह रूप ही आगे चलकर अधिकाधिक विकसित होता हुआ अवशिष्ट रह जाता है जिसका उद्देश्य कोई अलौकिक सिद्धि मात्र समझ लिया जाता है । परन्तु यज्ञों का सूक्ष्म विश्लेषण करने पर यह बात भली - भांति समझी जा सकती है कि प्रारंभ में उनका लक्ष्य केवल सूक्ष्म आध्यात्मिक तथ्यों को अभिनय या कर्मकाण्ड द्वारा सर्वग्राही बनाना ही था"[१] बाद में आकर कर्मकाण्ड अत्यन्त जटिल और विस्तृत हो गया, फल स्वरूप नाटक से मेल रखनेवाले कुछ लोकप्रिय रूप नष्ट प्राय हो गये । किन्तु नाटक के मूल रूप को यज्ञ से नहीं निकला जा सका । "ऋत्विजों और यजमानों के मनोरंजन के लिये ब्रह्मोदय कथाओं के साथ साथ कुछ मोटे - मोटे नाटक के ढंग के प्रदर्शन भी होते रहे । सोम क्रयण तथा महाव्रत के साथ होने वाली नृत्य आदि क्रियाओं को हम इसी प्रकार के प्रदर्शन में गिन सकते हैं । ----- अपने उद्भव काल में नाटक और यज्ञ के इस अभिन्न प्रमाण हमें नाट्यशास्त्र में सुरक्षित परम्परा से भली भांति मिल जाता है । यह बात निर्विवाद रूप से मानी जा सकती है कि वैदिक साहित्य और उसको व्यावहारिक रूप देनेवाले यज्ञों के मूल में देवासुर संग्राम तथा उसके अंत में होनेवाली इन्द्र की विजय ही है ।"[२]

----

१. मध्यकालीन नाट्य परम्परा पृ. ५

२. वही - पृ. ६

नाट्य शास्त्र के अवलोकन से भी इसी बात की पुष्टि होती है। भरतमुनिने स्पष्ट रूप से बताया है कि इसके (नाट्य प्रयोग) अभिनय का यह महान अवसर उपस्थित है। महेन्द्र का यह शोभापूर्ण महोत्सव चल रहा है। इस समय में इस महोत्सव में ही इस नाट्य नामक वेद का प्रयोग (अभिनय) किया जाना चाहिये। इसकी नान्दी में देवों द्वारा दैत्यों पर प्राप्त विजय के अनुकरण का ही समावेश है।[१] पश्चात् जो नाटक अभिनीत हुये उसमें भी देवों द्वारा दानवों का संहार या उनकी पराजय की कथा ही बतलायी गयी। इस अभिनय से क्षुब्ध होकर दानवोंने विघ्न करना शुरू किया। यह देखकर इन्द्रने वहीं गड़े हुए ध्वज को हाथ में ले कर सारे विघ्न कारियों को विनष्ट कर डाला। इस से देवगण अति प्रसन्न होकर बोले कि आपके इस शस्त्रने हमारे सारे विघ्नों को तथा असुरों को जर्जरित कर डाला है; अतएव यह "जर्जर"

१-२ महानयं प्रयोगस्य समय: समुपस्थित: ।
अयं ध्वजमह: श्रीमान्महेन्द्रस्य प्रवर्तते ।। ५४ ।।
अत्रेदानीमयं वेदो नाट्य संज्ञ: प्रयुज्यताम् ।
ततस्तस्मिन ध्वज महे निहतासुर दानवे ।। ५५ ।।
प्रहृष्टामरे संकीर्णे महेन्द्र विजयोत्सवे ।
नान्दीकृता मया पूर्वमाशीर्विचन संयुता ।। ५६ ।।
अष्टांगपद संयुक्ता विचित्रा वेद निर्मिता ।
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा यथा दैत्या: सुरैर्जिता ।। ५७ ।।
एवं प्रयोगे प्रारब्धे दैत्य दानव नाशने ।
अभवन् क्षुभिता: सर्वे दैत्या ये तत्र संगता ।। ६४ ।।
अथोत्थाय द्रुतं क्रोधाद् दिव्यं जग्राह स ध्वजम् ।
सर्वरत्नोज्ज्वलतनु: किंचिंदुद्ध त्तलोचन: ।। ६६ ।।

के नाम से विख्यात होगा और जब कभी वे असुर हिंसा वृत्ति पर उतर आयेंगे तो वे इसे देखते ही इसी अवस्था को प्राप्त हो जायेंगे ।[२] इसी समय से ले कर पश्चात् तक असुरों से रंगशाला की रक्षा के लिये जर्जर की स्थापना होती है जो बांस का बना होता है ।[३] जर्जर की पूजा का भी विशेष विधान बतलाया गया है, जिसका वर्णन तीसरे अध्याय के ७४ वें श्लोक से ८२ वें श्लोक तक किया गया है । प्राश्निक (आलोचक) को अपना कार्य जर्जर मोक्ष से ही प्रारंभ करना चाहिये, तभी उसे सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है ।[४] यज्ञों में स्थापित यूपों का भी प्राय: यही उद्देश्य था । "पीछे जब यज्ञों में हिंसा का प्रयोग होने लगा तो उससे पशु बांधने का काम भी लिया जाने लगा, जिसके कारण यूप की आकृति भी कुछ विशेष प्रकार की होने लगी । इस विषय में यह ध्यान देने योग्य है कि ब्राह्मण ग्रंथों में यूप को प्राय: इन्द्र का वज्र कहा गया है (वज्रो यूप: - श.ब्रा.) और फलत: उसका विघातक रूप नाट्य शास्त्र के उक्त जर्जर ध्वज से

१-२ चालु -------

रंगपीठ गतान्विघ्नानसुरांश्चैव देवराट् ।
जर्जरी कृत देहांस्तान करो ज्जर्जरेण स: ।। ७० ।।

यस्मादनेन ते विघ्ना: सासुरा जर्ज्जरी कृता: ।
तस्माज्जर्जर एवेति नाम तेऽयं भविष्यति ।। ७३ ।।

शेषा: ये चैव विघ्नार्थमुपस्था स्यन्ति विघ्नका: ।
दृष्ट्वैव जर्जरं तेऽपि गमिष्यन्त्येवमेवतु ।। ७४ ।।

नाट्यशास्त्र प्रथम अध्याय ।

३. नाट्यशास्त्र १-७५ तथा इंडियन स्टेज - पृ. ४-६

४. जर्जरमोक्ष स्यान्ते सिध्धेमोक्षास्तु नालिकायास्तु ।
कर्तव्यस्त्विह सततं नाट्यज्ञै: प्राश्निकै र्विधिना ।।
नाट्यशास्त्र २७-३६

पूर्णतया मिलता है। यज्ञ यूप के अनुकरण स्वरूप उक्त ध्वज को स्थापित करने की प्रथा केवल नाट्य शालाओं में ही नहीं, अपितु नाटक की भांति ही वैदिक साहित्य तथा वैदिक कर्मकाण्ड से उद्भूत और प्रभावित इसी प्रकार की अन्य क्रियाओं में भी प्राप्त होती है। ----- देवासुर संग्राम, महेन्द्र विजय तथा यूपोपम जर्जर ध्वज के साथ साथ यदि हम वेद व्यवहार को सार्व वर्णिक बनाने का नाटक का नाट्य शास्त्रोक्त उद्देश्य भी सामने रखें तो यह बात सहज में ही स्पष्ट हो जाती है कि जिस नाटकीय परम्परा के लिये भरत का नाट्य शास्त्र लिखा गया, उसका जन्म, परिवर्द्धन तथा परिष्कार वैदिक दर्शन, साहित्य तथा कर्मकाण्ड के उदात्त और ओजस्वी उत्संग में हुआ। नाट्य शास्त्र में वर्णित रंगशाला के स्वरूप का निर्धारण भी वैदिक यज्ञ मंडपों के अनुकरण पर ही हुआ और नाटकीय प्रयोग से संबंध रखनेवाली अनेक धार्मिक क्रियाओं का उद्भव भी वैदिक कर्मकाण्ड से हुआ।"[१]

इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मन्तव्य है कि न तो यूनानी नाटकों की तरह भारतीय नाटक धार्मिक उत्सव से ही विकसित हुये हैं और न वीर-पूजा या इन्द्रध्वज उत्सव जैसे धार्मिक उत्सवों से ही; क्योंकि संस्कृत के कई नाटकों में वीर रस नहीं पाया जाता है। इसलिये उन्हे वीर पूजात्मक कहना असंगत जँचता है। किन्तु काव्य की किसी भी विधा में रस विशेष का अवलम्बन तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों पर निर्भर करता है। अतएव यदि संस्कृत के कतिपय नाटकों में वीर रस का अभाव है तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि इस का संबंध वीर-पूजा और इन्द्रध्वज जैसे धार्मिक उत्सवों से नहीं है।

----

१. मध्यकालीन नाट्य परम्परा पृ. ६-७

अतएव वैदिक कर्मकाण्ड से नाट्योत्पत्ति वाला सिद्धान्त समीचीन है । बहुदेववाद का सिद्धान्त हमें बतलाता है कि आदिम अवस्था के मनुष्य का हृदय प्रकृति और उसके विभिन्न रहस्यमय उपादानों के अवलोकन से रहस्यमय श्रद्धा की भावना से धीरे धीरे आप्लावित होने लगा और वे उन उपादानों की पूजा करने लगे । पश्चात् समय के परिवर्तन के साथ उनकी पूजा-पद्धति भी बदलती गयी और विभिन्न उपायों द्वारा वे उन्हें प्रसन्न रखने का प्रयत्न करने लगे । इन उपकरणों में से एक उपकरण नृत्य, नाट्य इत्यादिका भी रहा होगा जो आज भी देव मंदिरों में उपासना के अंग रूप में देखा जाता है । अतएव धार्मिक उत्सवों या वैदिक कर्मकाण्ड में शनैः शनैः परिवर्तन होने लगा और इस परिवर्तन के अनुरूप ही नाटक के रूपों का विकास होता गया । कुछ समय बाद कर्मकाण्ड में हिंसा और भोग लिप्सा का प्राधान्य हो गया, जिसके निवारण के लिये अनेक ब्राह्मण ग्रंथ और दर्शनोंने प्रयास किया । फल स्वरूप अनेक वादों का जन्म हुआ और धार्मिक संघर्ष की भी नींव पड़ गयी । "शताब्दियों तक चलनेवाले इस विरोध के परिणाम स्वरूप ही नाटक को कर्मकाण्ड से छुटकारा पाने का अवसर मिला और उसे स्वतंत्रता की वायु में पल्लवित और पुष्पित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ ।"

~~इसे किसी भी वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक उत्सवों,~~ नाटकों के विकास के इतिहास में उपर्युक्त उद्भव तथा आरंभिक विकास के पश्चात् उसमें पल्लवन की महत्व पूर्ण कड़ी बौद्धकाल है । बौद्ध और जैन धर्मोंने हिंसाजनित वैदिक कर्मकाण्ड का प्रबल विरोध किया और साथ ही बौद्ध धर्म कुछ शतियों में ही सम्पूर्ण भारत का लोकव्यापी धर्म बन गया । इसका यह स्वाभाविक परिणाम निश्चित रूप में पड़ा होगा कि सामाजिक उत्सवों, सामूहिक मनोरंजनों आदि के आनंदोत्सव और यज्ञादि के अवसर पर संभव न थे । अतः भारतीय नाट्य परंपरा को अपने उन्मुक्त विकास का उपर्युक्त अवसर इस युग में मिला होगा, यह

असंदिग्ध रूप में कहा जा सकता है । डॉ. कुँवरचन्द्रप्रकाशसिंहने नाटकों के विकास **के इस नवीन मोड़ के** विषय में कहा है कि इसी कारण से बौद्धकाल में यज्ञ आदि धार्मिक क्रियाओं से पृथक् नाटक का स्वतंत्र रूप हमारे समक्ष आने लगता है ।[१]

डॉ. कीथने भी वैदिक कर्मकाण्ड तथा धार्मिक उत्सवों से नाटक की उत्पत्ति मानते हुए कहा है कि यदि हम ऋग्वेद के गूढ़ एवं रहस्य-पूर्ण कथोपकथन का अवलोकन करें तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि अन्य आदिम पूजा पद्धति के समान ही इनमें भी नाटक के तत्व पूर्ण रूप से विदयमान हैं । ये सूक्त केवल गाये जाने के लिये अथवा देवताओं के सम्मान में शंसन के लिये ही नहीं हैं, अपितु इनमें संयुक्त उत्सवों का भी समावेश है और असंदिग्ध रूप से नाटकीय प्रदर्शन के तत्व निहित हैं । कहने का तात्पर्य यह है कि पुरोहित गण सूक्तों का पाठ अथवा शंसन करते समय तत्क्षण के लिये अपने व्यक्तित्व को विस्मृत कर अपने ऊपर किसी अन्य व्यक्तित्व का आरोप कर लेते थे ।[२]

पाश्चात्य देशों में नाट्योत्पत्ति का सिध्धान्त -------

पाश्चात्य देशों में भी भारत की ही भांति नाट्य-परंपरा के उद्भव में धार्मिक प्रेरणा को स्वीकार किया गया है । प्रो. निकोलने कहा है कि अन्य अधिकांश देशों की भांति ग्रीस में भी सुखान्तक और दुखान्तक नाटकों की उत्पत्ति धार्मिक उत्सवों और रीति रिवाजों से ही हुई । डायोनिसस (Dionysus) के मदिरोन्मत्त भक्त अपने को प्रतीकात्मक अलंकारणों से सुसज्जित कर अनेक प्रकार की चेष्टाएं और मुद्राएं बनाकर उनके समक्ष प्रस्तुत करते थे । इस तरह के असंस्कृत अभिनयने वनदेवता संबंधी सुखान्तक नाटक को जन्म दिया । अपेक्षा कृत अधिक वैभव युक्त भक्तोंने

----

१. मध्यकालीन नाट्य परम्परा पृ.७-८

२. The Sanskrit Drama P.23

प्रभावशाली देवों की वेदी पर अपने स्तर की चेष्टाएं और मुद्राएं प्रदर्शित की जिनमें स्पष्टत: त्रास की भावना परिलक्षित होती थी। धार्मिक उत्सवों के सामूहिक गीतों से प्रारंभिक (Primitive) कथोपकथन का विकास गायक गण एवं उनके नायक - जो प्राय: ईश्वर के समान जामा या घाघरा पहने रहते थे - के माध्यम से हुआ। शनै: शनै: गीत विस्तृत होते गये और विवरणात्मक (Narrative) तत्वों के संगम से इनका विकास होता रहा और ये अति शीघ्र ही उस अवस्था में पहुंच गये जब कि आदिम रीति से देवों की कथा कथोपकथन के द्वारा कही जाती थी। बाद में आकर एक नायक के बदले दो नायक होने लगे। प्रारंभिक अवस्था में ये नाटक सदैव विशाल धार्मिक उत्सवों के अंगरूप ही माने जाते थे। सामाजिकों के हृदय में अभिनय के प्रारंभ में ही अवसर के अनुरूप भय और त्रास की भावना उत्पन्न कर दी जाती थी ; फल स्वरूप कार्य तथा कथोपकथन के विकास के लिये केवल कुछ निश्चित् महत् और गंभीर ध्वनियों एवं चेष्टाओं को ही स्वीकार किया गया। इस कारण कथावस्तु अपरिवर्तन शील (Stereotyped) बनी रही और कुछ सीमित विषयों पर ही नाट्यकारों को अपनी रचना प्रस्तुत करनी पड़ती थी। .

ग्रीस की रंगशाला विशाल होती थी और जिसमें 'गैलेरी' के समान बैठने की व्यवस्था रहती थी। इस रंगशाला के ध्वंशावशेष आज भी ऐथेंस के सीमा प्रान्त या अन्य स्थलों पर स्मारक के रूप में सुरक्षित हैं। यह रंगशाला वृत्ताकार रूप में पत्थरों की बनी रहती थी और पत्थर से, ऊपर-नीचे के क्रम में, गैलेरी के समान, सामाजिकों के बैठने के लिये स्थान बना दिया जाता था। इसमें इतना पर्याप्त स्थान होता था कि सहस्त्रों की संख्या में एकत्रित सामन्त एवं दास दोनों वर्गों के लोगों का -- जो एक ही उद्देश्य से अभिनीत होते हुए नाटक को देखने आये हैं --- समावेश सरलता से हो जाता था।

उपर्युक्त कारणों से ग्रीक-नाटक जड़ बन गया, इसके कार्यों में तीव्र चेष्टाओं को वर्जित कर दिया गया ; कथोपकथन को सरल, तीक्ष्ण और अबधा बनाने के स्थान पर उसमें वैभव और प्रभाव का समावेश हो गया ।[१]

तुलना ------- उपर्युक्त प्राच्य तथा पाश्चात्य नाट्योत्पत्ति संबंधी मान्यताओं के परीक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि संसार के अधिकांश देशों के नाटक के मूल में धार्मिक उत्सवों एवं रीति-रिवाजों का प्रमुख स्थान रहा है । धार्मिक उत्सवों से उद्भूत होने पर भी दोनों के मूल में अंतर यह है कि भारतीय परम्परा के नाटकों में प्रारंभ से ही क्रीडनीयक और निःश्रेयस दोनों का समान स्थान रहा है, जबकि पाश्चात्य परम्परा के नाटकों में भय और त्रास (AWe) की प्रधानता रही है ।

दूसरा अंतर यह है कि यद्यपि भारतवर्ष और ग्रीस में नाट्य के उद्भव में संघर्ष का भी पर्याप्त मात्रा में सहयोग रहा है जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण पूर्व निर्दिष्ट सोम क्रय सूक्त में मिल जाता है, ----- किन्तु हमारे यहां इस संघर्ष के कारण चारित्रिक-वैचित्र्य पर उतना ध्यान नहीं दिया गया जितना कि रस पर । इस के विपरीत ग्रीस के नाटकों के विकास में संघर्षने अपना पूर्ण प्रभुत्व स्थापित कर लिया । इस बात को स्वीकार करते हुए डो.कीथने कहा है कि भारतीय नाटकों में संघर्ष को ज्यादा महत्व नहीं दिया गया तो भी प्रत्येक कला में अथवा नाटकों में यह स्पष्ट रूप से विद्यमान है । यह निस्संदेह रूप से कहा जा सकता है कि संघर्ष को व्यक्त करनेवाले प्रारंभिक सामग्री की सरलता से ~~नाटक~~ नाटक के उच्चतर रूपों का विकास हुआ ।[२]

----

1. British Drama - P.14-16
2. .....But it is distinctly present in all the higher forms of the art and we can hardly doubt that it was from this conflict that these higher forms were evolved from the simplicity of the early material out of which the drama rose.

The Sanskrit Drama P.39

इस प्रकार दोनों नाट्य परम्परा में प्रारंभ से ही अन्तर लक्षित होने लगता है, और बाद में आ कर इसी आधार पर दोनों के आदर्शों तथा मान्यताओं में भी पर्याप्त भिन्नता आ जाती है । मूल रूप अर्थात् नाट्य की आत्मा एक होते हुए भी आदर्श एवं मान्यता के कारण इनके उपकरणों एवं प्रयोगों में कतिपय समानता के साथ अनेक असमानताएं भी हैं जिन्हें हम अभी दोनों की परिभाषाओं में पायेंगे ।

नाट्य विषयक भारतीय अवधारणा ---------

हमारे यहां की परम्परा यह रही है कि जब कभी आचार्यने किसी विषय की परिभाषा दे कर उसको सीमा बद्ध करना चाहा तो उन्हें अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों पर ध्यान देना पड़ा, क्योंकि इन दोनों दोषों से रहित परिभाषा ही सर्वमान्य हो सकती है । प्रत्येक परिभाषा में प्राय: दो गुणों या तत्वों का समावेश रहता है - एक अंतरंग और दूसरा बहिरंग । बहिरंग तत्वों का निर्माण तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि परिस्थितियों पर भी निर्भर करता है । अतएव प्रत्येक समय और देश के नाटकों में मूल तत्व एक होते हुए भी उनके बाह्य रूपों में भिन्नता पायी जाती है । कोई भी विषय परिभाषा के अधीन होने से वह उसकी निर्धारित सीमा में आबद्ध अवश्य हो जाता है किन्तु उसे अपने लक्ष्य तक पहुंचने में बड़ी आसानी होती है । रचनाकार तभी अपनी कृति प्रस्तुत कर पाता है जब उसकी हृत् तंत्री भावनाओं के उत्ताल तरंगों से झंकृत हो उठती है । उस समय संभावना यही रहती है कि बेगवान तरंगों के प्रवाह में कवि अपने पथ को भूल कर किसी दूसरी जगह न भटक जाय । परिभाषा उनकी विशृंखलित भावनाओं को संतुलित बनाये रखती है । अतएव इसकी आवश्यकता इसलिये है कि वह हमेशा कवि को अपने सुपथ का स्मरण दिलाती हुई लक्ष्य प्राप्ति में सहायक हो ।

नाट्य शास्त्र के प्रणेता भरतमुनिने सर्वप्रथम नाटक के लक्षणों को निर्धारित किया । इनके अनुसार नाटक में प्रख्यात कथानक तथा प्रख्यात और उदात्त नायक का होना आवश्यक है । अनेक प्रकार की विभूति, विलास, लीला आदि से युक्त राज्यवंश के चरितों का अनुकीर्तन नाटक की विषय वस्तु होनी चाहिये । इस में सुख-दुख, आशा-निराशा, उत्थान-पतन, हर्ष-शोक आदि भावों एवं रसों को भी प्रदर्शित किया जाय । नाटक और प्रकरण में पांच से दस के बीच ही अंकों की संख्या होनी चाहिये, क्योंकि पांच से कम होने पर पूरे चरित का विवरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकेगा और अधिक होने पर रसास्वाद के स्थान पर जी ऊब उठेगा । इन दसों अंको की योजना गोपुच्छाग्र क्रम से ही की जानी चाहिए । उदात्त भावों को 'कार्य' में समाविष्ट कर देने से उसका प्रभाव चिरस्थायी रहता है । नाटक में अनेक रसों का समाहार तो होना चाहिए किन्तु निर्वहण संधि में अद्भुत रस का निर्वाह ही समीचीन और अपेक्षित है ।[१]

---

१. प्रख्यात वस्तु विषयं प्रख्यातोदात्त नायकं चैव ।
राजर्षिवंश्य चरितं तथैव दिव्याश्रयो पैतम् ।। १० ।।
नाना विभूति भिर्युतमृद्धि विलासादिभि र्गुणैश्चैव ।
अंक प्रवेशकाव्यं भवति ही तन्नाटकं नाम ।। ११ ।।
नृपतीनां यच्चरितं नाना रसभाव चेष्टितं बहुधा ।
सुख दु:खोत्पत्तिकृतं भवति हि तन्नाटकं नाम ।। १२ ।।
प्रकरण नटिक विषये पंचाद्या दश परा भवन्त्यंका: ।। २९ ।।
काव्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं कार्य बन्धमासाद्य ।
ये चोदात्ता भावास्ते सर्वे पृष्ठत: कार्या: ।। ४२ ।।
सर्वेषां काव्यानां नाना रस भावयुक्ति युक्तानाम् ।
निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोद्भुत स्तज्ज्ञै: ।। ४३ ।।
ना.शा.अध्याय १८

धनञ्जयने भरतमुनि की परिभाषा को ही दूसरे शब्दों में दुहराते हुए कहा है कि पांच अंकों का नाटक निम्न और दस अंकों का श्रेष्ठ होता है । अंकों की योजना में भरतमुनि के उपर्युक्त प्रकार से गोपुच्छन्यवत् होने के सिद्धान्त की धनंजयने एक प्रकार से उपेक्षा की है । किन्तु इन्होंने इतना अवश्य कहा है कि प्रत्येक नाटक में एक ही रस - शृंगार या वीर अंगी के रूप में स्वीकार किया जा सकता है ।[१] यह धनंजय के विवेचन की नवीन देन है ; क्योंकि भरतमुनिने अंगीरस के विषय में कुछ निर्देश नहीं किया था ।

रामचंद्र गुणचंद्रने समस्त लक्षणों का समावेश केवल एक श्लोक में कर दिया है । इनके अनुसार रूपक के भेदों में से, धर्म, अर्थ और काम त्रिविध फलोंवाला ; अंक, उपाय, दशा, संधि से युक्त देवता आदि जिनमें सहायक हों ; इस प्रकार का पूर्व काल के प्रसिद्ध राजाओं का चरित प्रदर्शित करनेवाला अभिनेय काव्य को नाटक की संज्ञा दी जाती है ।[२] इनके अनुसार नाटकों में देवताओं को नायक नहीं बनाया जा सकता है, किन्तु नायिका दिव्य भी हो सकती है । अन्य आचार्यों से अलग इन्होंने प्रतिनायक का भी उल्लेख किया है, जो लोभी, धीरोद्धत, पापी और व्यसनी होता है ।[3] इस तथ्य के समाविष्ट होने से नाटकों में आन्तरिक संघर्ष के साथ ही बाहय संघर्ष का भी महत्व स्वीकार किया गया । इस बाहय संघर्ष के कारण जो नाटकों में गतिशीलता आ जाती है वह प्रारम्भिक अवस्था में नहीं थी । वैसे अलौकिक बाहय संघर्ष का स्थान सदा से ही रहा है किन्तु उसे मान ही लेना पड़ता है तथा संघर्ष के प्रतिकार के लिये क्रिया-प्रतिक्रिया का अभाव-सा रहता है । अतएव उसमें आकर्षण की तीव्रता नहीं रहती है ।

---

१. एको रसोऽङ्गी कर्तव्यो वीर: शृंगार एव वा ।
अंगमन्ये रसा: सर्वे कुर्यान्निर्वहणेऽद्भुतम् ।। दशरूपक ३-३३

२. ख्यातादय राज चरितं धर्मकामार्थ सत्फलम् ।
साङ्कोपाय-दशा-संधि-दिव्याङ्गं तत्र नाटकम् ।। नाट्यदर्पण १-५

३. लोभी धीरोद्धत: पापी व्यसनी प्रतिनायक: । नाट्यदर्पण ४-१३

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि यहां की परिभाषाओं में अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तत्वों का सम्पूर्ण रूप से समाहार है जिससे सिद्ध होता है कि यहाँ का नाट्य साहित्य पूर्ण समृद्धि को पहुंच चुका था ।

पाश्चात्य अवधारणा --------

पाश्चात्य देशों में सर्वप्रथम अरस्तूने अपने ग्रंथ "द पोएटिक्स" में अन्य काव्य विधाओं की चर्चा करते हुए त्रासदी और सुखान्तक नाटकों की विवेचना प्रस्तुत की है । इन्होंने त्रासदी की परिभाषा देते हुए कहा है कि -- "त्रासदी किसी गंभीर, स्वत: पूर्ण तथा निश्चित् आयाम से युक्त कार्य की अनुकृति का नाम है जिसका माध्यम नाटक के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न रूप से प्रयुक्त सभी प्रकार के आभरणों से अलंकृत भाषा होती है ; जो समाख्यान रूप में न होकर कार्य व्यापार रूप में होती है और जिनमें करुणा तथा त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है ।"[१]

सुखान्तक नाटक की परिभाषा देते हुए अरस्तूने कहा है कि "कामदी में, जैसा कि हम पहले कह आये हैं ; निम्नतर कोटि के पात्रों का अनुकरण रहता है -- यहां निम्न शब्द का अर्थ बिलकुल वही नहीं है जो 'दुष्ट' का होता है क्योंकि अभिहास्य तो कुरूप का एक उपभाग मात्र है -- उसमें कुछ ऐसा दोष या भद्दापन रहता है जो क्लेश या

---

१. Tragedy, then, is an imitation of an action of high importance, complete and of some amptitude ; in language ehanced by distinct and varying ~~beansies~~ beauties ; acted not narrated , by means of pity and fear effecting it's purgation of these emotions.
(The Poetics - Translated by L.J. Poets P.24).
तथा अरस्तू का काव्य शास्त्र पृ. ६५

अमंगलकारी नहीं होता । एक प्रत्यक्ष उदाहरण लीजिये - प्रहसन में प्रयुक्त छद्म मुख विरूप और भद्दा होता है ; पर क्लेश का कारण नहीं"।[१] उपर्युक्त परिभाषाओं के द्वारा त्रासदी और कामदी में यह अंतर प्रकाश में आता है कि कामदी में यथार्थ जीवन की अपेक्षा मानव का हीनतर चित्रण प्रस्तुत किया जाता है, जब कि त्रासदी का लक्ष्य भव्यतर-चित्रण प्रस्तुत करता है ।

Daniello ने त्रासदी तथा कामदी के अंतर को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कामदी लेखक की सामग्री सुपरिचित और घरेलू घटनाओं से संबंधित होती है -- ये घटनाएं अयोग्य अथवा 'दुष्ट' नहीं होती हैं - जबकि त्रासदी का लेखक बड़े-बड़े राजाओं तथा सम्राटों की मृत्यु एवं राज्यों के विनाश की कथाओं का आलेखन करता है ।[२]

Minturno इन दोनों के अंतर को स्पष्ट करते हुए अपना मत व्यक्त करता है कि त्रासदी में उच्च या सामन्त वर्ग से संबंधित गंभीर और उदात्त घटनाओं का ही समावेश होना चाहिए किन्तु कामदी में मध्यवर्गीय समाज अथवा देश अथवा शहर के साधारण जन की घटनाओं का चित्रण अपेक्षित है ।[३]

---

१. Comedy is, as I have said, an imitation of lower types ; though it does not include the full range of badness, neverthless to be ridiculous is a kind of deformity. The causes of laughter are errors and deformities that do not paine or injure us ; the comic mask, for instance, is deformed and distorted but not paidful so.
तथा अरस्तू का काव्य शास्त्र - पृ. १२४.   Ibid - P.23

२. The meterials to the hand of the comic writer were familiar and domestic occurrence, not to say base and even vicicus, while the tragic poets treat of the deaths of high kings and the ruins of the great empires.
The Theory of Drama P.85.

३. Tragedy should deal with the serious and grave happenings and that is concerned those of high rank, while comedy recognised the middle sections of society - Common people of the city or the country. (The Theory of Drama P.85)

इन तत्वों में घटनाओं की योजना मुख्य है, क्योंकि त्रासदी मानव की नहीं अपितु कार्य, जीवन तथा आनन्द की अनुकृति है। अभिनेता का उद्देश्य चरित्र का अनुकरण करना नहीं है ; वह तो चरित्र को कार्य के एक भाज्य ( ) के रूप में ही आरोपित कर लेता है। अतएव घटना (कथानक) ही वह लक्ष्य है जिस पर त्रासदी का अस्तित्व टिका हुआ है और यह लक्ष्य अन्य तत्वों से कहीं ज्यादा महत्व रखता है। बिना किसी कार्य अथवा घटना के किसी त्रासदी की कल्पना नहीं की जा सकती है, जबकि चरित्र के अभाव में भी त्रासदी विद्यमान रह सकती है। जिन दो तत्वों के कारण त्रासदी हमें प्रभावित करती है वे दो तत्व - Irony of events and Disclosure कथानक के ही अविभाज्य अंग हैं। अतएव कथानक त्रासदी का स्त्रोत ही नहीं किन्तु उस की आत्मा भी है। अतएव चरित्र का स्थान गौण हो कर इसके पश्चात् ही आ सकता है।[१]

अरस्तू के इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए प्रो. निकोलने कहा है कि प्रत्येक नाटककार को नाट्य रचना के प्रारंभ में तीन बातों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। प्रथमत: कथावस्तु जिस पर नाटक आधारित होता है, द्वितीयत: चरित्र, जिसके माध्यम से कथावस्तु का प्रदर्शन होता है और तृतीयत: वह साधन (वास्तविक कथोपकथन) जिसके द्वारा इन दोनों की अभिव्यक्ति होती है। त्रासदी चरित्र के अनुकरण के लिये कार्य का अनुकरण नहीं करती है ; कार्य के अनुकरण में ही निश्चित् रूप से चरित्र का भी समावेश हो जाता है। अतएव कार्य और कथानक ही त्रासदी के प्रधान लक्ष्य हैं। तार्किक रूप से यह बिल्कुल सत्य है क्यों कि नाटक कथोपकथन के रूप में कहानी कहने की एक कला है।

----

१. Ibid. P. 26.

इसलिये कथानक के अभाव में नाटक की कल्पना ही नहीं की जा सकती है ; वह कथानक अल्प प्रभाव अथवा दुर्बल भी हो सकता है ।[१]

दूसरी बात यह है कि नाटक रंगमंच की वस्तु है और इसके लिये प्राथमिक रूप में अनिवार्यत: किसी न किसी कथानक की ही आवश्यकता होती है, जिसके माध्यम से वह सामाजिकों पर मार्मिक, हृदयस्पर्शी और तीव्र प्रभाव डालता है । यद्यपि कथानक चरित्र के माध्यम से ही अभिव्यक्त होता है किन्तु वे चरित्र कथानक की सहायता से ही अपना प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हो पाते हैं । अतएव चरित्र की विवेचना अलग से करने की आवश्यकता नहीं है ; दोनों का संबंध अंगांगी का माना जा सकता है । इन कारणों से त्रासदी के लिये कथानक प्रथम और अनिवार्य आवश्यकता है ; चरित्र का स्थान इसके बाद गौण रूप में ही हो सकता है ।[२]

उपर्युक्त सिद्धान्त सम्पूर्ण रूप से सत्य नहीं हो सकता है, क्योंकि कथानक तो एक जड़ और निर्जीव वस्तु है ; जब तक कोई चेतन क्रियाशील वस्तु उसको संचालित नहीं करती तब तक वह प्रभावोत्पादक बन नहीं सकती है । कथानक के इस संचालक आत्म तत्व को ही चरित्र कहा जा सकता है । जैसा कि पहले दृष्टिगत किया जा चुका है कि अरस्तू अथवा

---

१. The dramatist, at out set, will have to determine three things - the theme which is to be dealt with, the characters by means of which that theme is to be displayed and the medium (the actual dialogue) through which both are to be given expression ------------- but in the imitation of action that of character is of course involved ; so that the action and the plot are the end of tragedy. ---------Logically this is absolutely truth. Since drama is the art of telling a story in dialogue, then no drama can exist without some kind of a plot, however slight.
(The Theory of Drama P.71)

2. Ibid. - P.73

प्रो. निकोलने कहा है कि कथानक के अभाव में त्रासदी के अस्तित्व की कल्पना ही नहीं की जा सकती है और चरित्र के बिना भी त्रासदी लिखी जा सकती है। यह तथ्य भी सत्य नहीं प्रतीत होता। घटनाओं में पात्रों के भावों, संवेगों और विकारों का आलेखन रहता है, किन्तु अभिव्यक्ति के बिना इनका कुछ महत्व ही नहीं हो सकता है। इस अभिव्यक्ति के लिये चरित्रों की ही अनिवार्य रूप से आवश्यकता पड़ती है। अतएव कथानक से कम महत्व चरित्र का नहीं हो सकता है। इन्हीं कारणों से यूरोप के परवर्ती नाट्यकारोंने कथानक की अपेक्षा चारित्रिक वैचित्र्य पर अधिक बल दिया है और तदनुरूप अपनी त्रासदियों में उसका आलेखन भी किया है।

एक तुलनात्मक परीक्षण ---------

भारतीय तथा पश्चिमी नाट्य परम्परा एवं उनकी मूल प्रकृति में भेद बताते हुए डो. सुरेश अवस्थीने लिखा है कि "एक ओर तो पश्चिम का अनुकृति मूलक और यथार्थवादी नाट्य साहित्य है जो रंगमंच के अनेक कला साधनों और उपस्कर पर निर्भर करता है; और दूसरी ओर भारत का रस-परक, काव्यमय और प्रतीकवादी नाटक है जिसमें कल्पना तत्व का प्राधान्य है, और जो अपने रंगमंचीय प्रदर्शन के लिये भौतिक साधनों की अपेक्षा समाज की रसज्ञता, कल्पना और संवेदन शीलता पर अधिक निर्भर करता है। वह सम्वादों की काव्य माधुरी से दर्शकों की अभिनयात्मिका वृत्ति को जगाता है और रंगमंच पर सत्याभास के नितान्त सरल विधान द्वारा नाटक के उपस्थापन का सफल उपचार करता है। इसके विपरीत पश्चिमी नाटक संवादों से अधिक दृश्य कलाओं पर जोर देता है और नितान्त स्वाभाविक-वादी दृष्टि से जीवन के चित्र रंगमंच पर प्रस्तुत करता है।"[१]

---

१. राजर्षि पुरूषोत्तमदास अभिनंदन ग्रंथका भारतीय नाट्य परंपरा की खोज नाम का लेख पृ. ४०३

उपर्युक्त प्राच्य एवं पाश्चात्य परिभाषाओं के तुलनात्मक अवलोकन से यह स्पष्ट लक्षित होता है कि इनमें मौलिक भिन्नता के साथ कतिपय समानताएं भी हैं । भारतीय नाटकों एवं त्रासदियों में उच्च कुलोत्पन्न उदात्त नायक एवं राज-वंश के चरितों के अनुकीर्तन को ही महत्व दिया गया है । प्रासंगिक कथानकों की सूत्रात्मकता तथा कृमिक विकास के लिये यदि हमारे यहां पांच कार्यावस्थाओं, पांच संधियों एवं पांच अर्थ प्रकृतियों की योजना की गयी है तो त्रासदियों के लिये भी पांच अवस्थाएं निर्धारित की गयी हैं जो ये हैं -----
१. व्याख्या - (Exposition) २. प्रारंभिक घटना (Incident) ३. चरमसीमा (Crisis) ४. सफलता की ओर झुकाव (Denouement) और ५. अंतिम फल (Catastrophe) ।[१] भारतीय परम्परा में इतिवृत्ति तीन तरह के होते हैं - प्रख्यात, उत्पादय तथा मिश्र । प्रख्यात, ईतिहास, पुराण आदि से गृहीत होता है ; उत्पादय कवि की कल्पना से उद्भूत होता है और मिश्र में दोनों का संकरत्व योग रहता है ।[२] अरस्तूने भी तीन प्रकार के कथानक का संकेत किया है - दन्तकथा मूलक, कल्पना मूलक और इतिहास मूलक ।[३] किन्तु अरस्तू की अपेक्षा भारतीय मनीषियों की इतिहास मूलक धारणा अधिक व्यापक और लचीली थी, इसलिये उन्होंने इतिहास का व्यापक रूप में ही प्रयोग किया है ।[४]

----

१. काव्य के रूप - पृ. ३३

२. प्रख्यातोत्पादयमिश्रत्वभेदात्रेधापि तत्रिधा ।
प्रख्यात मिहासा देण्त्पादयं कवि कल्पितम् ।।
मिश्रं च संकरात्ताम्यां दिव्य मर्त्यादि भेदत: ।।
दशरूपक १-१५-१६

३. अरस्तू का काव्य शास्त्र - पृ. ६८

४. वही पृ. ७०

भारतीय नाट्य शास्त्र में नाटक के प्रधान अंग तीन ही माने गये हैं - वस्तु, नेता और रस १ - जिनमें प्रत्येक उत्तरोत्तर महत्व के हैं। यहां का दृष्टिकोण रसवादी रहा है, अतएव रस पर ही सर्वाधिक बल दिया गया है। इसके विपरीत अरस्तू ने प्रत्येक त्रासदी के छह अंग स्वीकार करते हुए कथानक पर अधिक जोर दिया है। किन्तु ध्यान देने की बात है कि कथानक किसी भी नाटक का साध्य नहीं अपितु साधन मात्र है। घटनाओं में जब तक मानव - तत्वका समावेश नहीं होता है, तब तक वह आकर्षक नहीं बन सकती है। जिस घटना में मानव तत्व की जितनी ही कुशल और सफल अभिव्यक्ति होती है वह घटना उतनी ही आकर्षक और आनन्ददायक होती है।

निष्कर्ष ------

"इस दृष्टि से भारतीय नाट्य दर्शन की यह स्थापना ही वास्तव में सर्वाधिक मान्य है कि नाटक का प्राण रस है, उसका महत्व वस्तु और नेता दोनों से अधिक है। घटना से अधिक महत्वपूर्ण है उसमें निहित आत्मतत्व (चरित्र) और आत्मतत्व से अधिक महत्वपूर्ण है सफल अभिव्यक्ति (रस)। ----- इस प्रकार अरस्तू का कथानक विषयक सिद्धान्त काव्यालोचन की प्रारंभिक अवस्था का द्योतक है, यूरोप के परवर्ती नाट्यशास्त्र चरित्र विषयक सिद्धान्त उस से अधिक विकासित है और उससे भी अधिक विकसित है भारतीय नाट्यशास्त्र का रस सिद्धान्त।"२

अब तक केवल नाट्य धर्मी परम्परा की उत्पत्ति एवं स्वरूप के विषय में चर्चा की गयी है, किन्तु इसके अतिरिक्त एक और रूप है।

---

१. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदक: दशरूपक १-११

२. अरस्तू का काव्य शास्त्र पृ. ६८

जिसे लोकधर्मी परम्परा कहते हैं और जिसमें स्वाभाविकता अधिक रहती है ।[१] यह लोकधर्मी परम्परा भी अतिप्राचीन काल से देश के विभिन्न कोनों में देश-काल और रुचि के अनुसार अनेक रूप धारण करती हुई अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है । यह इतनी सशक्त रही है कि नाट्य धर्मी परंपरा भी इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी है । आधुनिक नाट्य साहित्य के इतिहास तक पहुंचने के लिये इस परम्परा के रूपों का परिचय अनिवार्य रूप से आवश्यक है । अतएव यहां अपेक्षित रूपों का परिचय जान लेना आवश्यक है ।

लोक-नाटक तथा मैथिली नाटय परम्परा -------

भरतमुनिने लोकधर्मी नाट्य परम्परा की रूप रेखा बताते हुए कहा है कि लोकधर्मी नाट्य में अनेक पुरूष और स्त्रीपात्रों का समावेश होता है तथा इसमें अकृत्रिम या स्वाभाविक अभिनय का प्रयोग भी अपेक्षित है । अंगलीला आदि का वर्जन होना चाहिये और इसकी कथावस्तु लोक वार्ता से ही गृहीत हो ।[२] इन्होंने नाट्य की सफलता के लिये तीन प्रमाणों का उल्लेख किया है --- लोक, वेद तथा आध्यात्म । किन्तु इनमें लोक प्रमाण ही सर्वश्रेष्ठ और मूलभूत है ; क्योंकि इस चराचर जगत् के भावों एवं विभिन्न चेष्टाओं का विधिपूर्वक निर्णय शास्त्र द्वारा नहीं दिया जा सकता है । नाटक में अनेक प्रकार की चेष्टाओं, भाव एवं प्रकृति का

---

१. लोकधर्मी भवेत्त्वन्या नाट्यधर्मी तथा परा ।
स्वभावो लोक धर्मीतु विभावो नाट्यमेव हि ।।
नाट्य शास्त्र २१-२०३

२. स्वभाव भावोपगतं शुद्धं तु विकृतं तथा ।
लोकवार्ता क्रियोपेतमङ्गलीला विवर्जितम् ।।
स्वभावाभिनयोपेतं नाना स्त्री पुरूषा श्रयम् ।
यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोक धर्मी तु सास्मृता ।।
नाट्य शास्त्र १३ - ७१-७२

समावेश अनिवार्य रूप से होता है । अतएव नाट्यधर्मी की परीक्षा केवल शास्त्र से नहीं हो सकती है, किन्तु उसके लिये लोक-प्रमाण आवश्यक रूप से अपेक्षित है ।[१]

भरतमुनि के इन कथनों से सामान्यतया दो बातें हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से उपस्थित होती हैं -- प्रथम यह कि लोकधर्मी नाट्य परम्परा का स्रोत अतिप्राचीन काल से ही, उस पहाड़ी नदी के समान चला आ रहा है ; जो अनवरत रूप से भीतर ही भीतर बहती रहती है और जब कभी मार्ग से शिला हट जाती है तो वह शीघ्र ही सिर उठाकर अपने अस्तित्व की सूचना दे देती है । पुन: कठोर शिला के मार्ग में आने पर कुछ क्षण के लिये वह दृष्टि-पथ से ओझल हो जाती है । किन्तु वह नदी सूखती नहीं है ; उसका स्रोत अविच्छिन्न रूप से बहता ही रहता है । दूसरे, नाट्यधर्मी परम्परा भी तब तक पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सकती जब तक लोक प्रमाण के द्वारा वह सिद्ध नहीं हो जाती है । अतएव शास्त्रीय नाटक के लिये भी लोक प्रमाण आवश्यक रूप से अपेक्षित है ।

वैदिक काल से लेकर आज तक के समाज में प्रत्येक समय शिक्षित और अशिक्षितों के दो वर्ग रहे हैं, तथा शिक्षित वर्ग सदा से अशिक्षितों पर अपनी प्रतिष्ठा, मर्यादा और अहम् का प्रदर्शन करता आया है ।

---

१. लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधम् स्मृतम् ।
वेदाध्यात्मोपपन्नं तु शब्दच्छन्दस्समन्वितम् ।।
लोकसिद्धं भवेत्सिद्धं नाट्यं लोकात्मकं तथा ।
न च शक्यं हि लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।
शास्त्रेण निर्णयं कर्तुं भावचेष्टा विधिंप्रति ।।
नानाशीला: प्रकृतय: शीले नाट्यं प्रतिष्ठितम् ।
तस्माल्लोक प्रमाणं हि विज्ञेयं नाट्य योक्तृभि: ।।
नाट्य शास्त्र २५ - १२०-१२३

किन्तु मनुष्यत्व के सामान्य गुणधर्म दोनों ही वर्गों में समान रूप से पाये जाने के कारण उन्हें मनोविनोद की आवश्यकता प्रतीत होती ही है। ये दोनों वर्ग अपने अपने स्वभाव और रुचि के अनुकूल विभिन्न स्रोतों से मनोरंजन के उपकरण एकत्रित कर, उसी में लीन होकर आनंद का रसास्वाद करते हैं। शिक्षितों की रुचि परिस्कृत और सुसंस्कृत रहती है, इसलिये वे अपने मनोविनोद के साधन काव्य-शास्त्रों से जुटाते हैं। दूसरी और ग्रामीण जन समूह फूहड़ और अश्लील तथा असंस्कृत गीतों एवं लोक-कथाओं को सुनकर अपने दुख को भूल जाता है और उसी में अपने आपको डुबा देता है। आज भी अशिक्षित ग्रामीण जनता जिस तरह "विदेशिया" और "जालिम सिंह" में सहयोग देती है और उस रस में लीन हो जाती है; उस तरह "स्कन्दगुप्त" और "चन्द्रगुप्त" के साथ तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकती है। किन्तु इस ग्रामीण जनता के मध्य से कुछ इस तरह के प्रतिभाशाली व्यक्ति निकलते हैं जो विभिन्न तरह के लोक-कथानकों को स्वाभाविक नाट्य रूप दे कर जनता का मनोरंजन करते हैं। अतएव वैदिक काल से ही इन लोक नाटकों की रचना अवश्य ही होती चली आ रही होगी। आज भारत के विभिन्न प्रदेशों में जो लोक-नाट्य विद्यमान हैं उनके पीछे यही ठोस परम्परा काम कर रही है; किन्तु दुर्भाग्य यह है कि उस परम्परा का अवशिष्ट चिन्ह भी उपलब्ध नहीं हो रहा है। इस संबंध में दूसरी बात यह है कि ये दोनों परम्पराएं प्रारंभ से ही एक दूसरे को प्रभावित करती चली आ रही हैं। यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि जब एक पदार्थ दूसरे के सम्पर्क में आता है तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वे परस्पर एक दूसरे से अवश्य ही प्रभावित: होते हैं। अतएव यह निश्चित है कि नाट्यधर्मी और लोकधर्मी परम्परा एक-दूसरे को निरन्तर प्रभावित करती रही हैं। "उदाहरण

के लिये जन नाटक का हंसोड़ पात्र संस्कृत नाटक में विदूषक के रूप में आ गया । इसी प्रकार रंगमंचादि साहित्यिक कलाओं का प्रवेश जन नाटक में होने लगा है । अत: यह नि:संदेह रूप से मानना चाहिये कि भारतीय देशी भाषाओं के साहित्यिक नाटक-प्रणयन से पूर्व कोई न कोई नाटक परम्परा प्रत्येक भाषा-भाषी प्रान्त में विद्यमान अवश्य रही है, जो संभवत: साहित्यिक नाटक का मूल कारण न होते हुए भी ज्येष्ठ भगिनी के नाते उसकी परिचर्या अवश्य करती रही होगी ।"[१]

पाश्चात्य नाटकों पर भी वहां के जन नाटक का प्रभाव अवश्य ही पड़ा है और शास्त्रीय परम्परा के विकास में इसका भी पर्याप्त मात्रा में योगदान रहा है । प्रो. निकोल का कहना है कि देश के जनसमूहों के बीच अवश्य ही असंस्कृत विष्कंभक के रूप में प्राचीन मूर्ति पूजा विषयक पद्धति की स्मृति विद्यमान थी जो आज भी सुरक्षित है ; किन्तु इस प्राचीन मूर्ति-पूजा संबंधी विश्वास के अवशेष मृतक के रूप में हो गये और इनमें किसी भी प्रकार की रचनात्मक नियमित प्रगति की शक्ति नहीं रही । टैरेन्स (Terence) की स्मृति, चिर विस्मृत और असभ्य रोमन प्रहसन या स्वांग, तथा फूहड़ कलाविहीन और अव्यवस्थित जन नाटकने अवश्य ही आदिकालीन अंग्रेजी नाटकों के विकास में योगदान दिया है ; किन्तु इन सबके बावजूद अंग्रेजी नाट्य परम्परा, ग्रीसके नाटकों की भांति इन विभिन्न स्त्रोतों से उद्भूत होने के बजाय स्वदेशोत्पन्न और स्वदेशी ही है, जो जीवित जन-विश्वासों से उद्भूत होकर जनसमूह

---

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास -
तृतीय संस्करण - पृ. ४८-४६

के लिये लिखे गये हैं और जनसमूहों के द्वारा अभिनीत भी हुए हैं ।[१]

लोकधर्मी नाटकों के सामाजिक तत्व ---------

लोकधर्मी नाटकों में लोक जीवन विविध रूपों में प्रतिबिंबित होता है । इसके कथानक, संवाद, गीत और अभिनय सामाजिक विश्वास, रूढ़ि, रीति-रिवाज, परम्परा और विचार सरणी पर आधारित रहते हैं । कोई भी नाटक इन तत्वों को लेकर ही अवतरित होता है, जिससे उसे लोक-विश्वास सहज ही प्राप्त हो जाता है । इस नाटक में आंचलिकता का छाप स्पष्टत: विद्यमान रहता है । अधिकाधिक जन-नैकट्य प्राप्त करने के लिये, कोई भी प्रसंग उपस्थित होने पर इसमें लोक गीतों की कड़ियां जोड़ दी जाती हैं । लौकिक आचार - विचारों को लोक-भाषा में ही प्रस्तुत किये जाने के कारण इसमें जन-बोधगम्यता का समावेश अनायास ही हो जाता है ।

"लोक-नाटकों की भाषा काव्यमयी होती है । चूंकि ये नाटक सामूहिक अभिव्यक्ति के साधन हैं और पद्यात्मक संवादों द्वारा

----

१. There may have been, among the country folk, remine scences of ancient pagan ritual in the form of crude interludes such as have been preserved even down to the present day ; but these remnants of the heathen beliefs of past times were fossitized and incapable of farther creative progression. Memories of Terence, relics of a debased and long forgotten Roman farce, folk plays of a rough and inartistic short, may all have played their part in the development of early English Drama ; but this English drama, inspite of any impression, made from those sources, is as indigenous as the drama of Greece, springing from the living faith of the people, written for the people and acted by the people.

British Drama P.19

समूह की कल्पना शक्ति भावों को ग्रहण करने की सामर्थ्य रखती है, इसलिये इन में गद्य का प्रभाव कम ही होता है । गद्य का प्रयोग भाड़ों के हास्यात्मक अभिनय अथवा इतिवृत्तात्मक प्रसंगों में किया जाता है । ऐसा गद्य भी प्राय: पद्यात्मक होता है, जहां शब्दों की लड़ियां एक दूसरे से गुंथी हुई द्रुतगति से आगे बढ़ती हैं । पदयबद्ध संवादों की परम्परा मध्यकाल के पूर्व से निरन्तर चली आ रही है । लोक में उसका प्रभाव परंपरा से पोषित होता चला आया है । इसीलिये लोक-मानस पर उसकी छाप तुरन्त पड़ती है । प्राय: देखा जाता है कि पद्यबद्ध संवादों में कथन की बारीकियां दर्शकगण उसी भांति पकड़ते हैं जिस तरह संवेदनशील कलाकारों की रचनाओं के उत्कृष्ट भाव कुशल पाठकगण ग्रहण करते हैं । ऐसे अनेक अंश इन नाटकों में होते हैं जो लोक-गीतों की धुनों में गाये जाते हैं और लोक-भाषा की पुरानी शब्द योजना में अवगुंठित होते हैं, अत: इनमें साधारणीकरण की सम्पूर्ण क्षमता विद्यमान रहती है ।[१]

लोकधर्मी नाटकों के प्रादेशिक रूप और मैथिली नाटक -------

इस प्रकार संसार के प्रत्येक देश में प्राचीनकाल से ही जन-नाटक का अस्तित्व विद्यमान रहा है । इनकी रचना के साथ साथ इनका अभिनय भी होता रहा है तथा वे शास्त्रीय नाटकों को प्रभावित भी करते आये हैं । भारत के विविध प्रदेशों में विभिन्न प्रकार के जन नाटक प्रचलित हैं ; जैसे बंगाल में यात्रा, कीर्तन तथा कविनाटक, आसाम में ओजा-पाली और झूमर, बिहार में विदेशिया तथा जालिमसिंह उत्तर प्रदेश में रास लीला, राम लीला, नौटंकी, गुजरात में भवाई और महाराष्ट्र में तमाशा आदि । इनकी विशेषता यह है कि विभिन्न

----

१. लोकधर्मी नाट्य परंपरा - पृ.६

दूरस्थ प्रदेशों में अनेक रूपों के होते हुए भी इनमें एक सूत्रात्मकता पायी जाती है । "उपर्युक्त सभी विभेदों में सामान्य रूप से संगीत की व्यापकता थी और गद्यभाग प्राय: उपेक्षित रहा । रंगमंचका कोई महत्व नहीं था, और वेश-भूषा तथा प्रसाधन अत्यन्त गौण समझे जाते थे । संगीतमय वातावरण के निर्माण का लक्ष्य होने के कारण उनमें नाटक के अन्य तत्व (चरित्र चित्रण, संघर्ष, क्रिया व्यापार आदि) अनपेक्षा माने जाते थे ।"[१]

मैथिली नाटक, कई कारणों से, तीन विभिन्न धाराओं में विभक्त हो जाता है । अतएव इसका उद्भव और विकास देखने के लिये इन तीन विभिन्न धाराओं के परीक्षण के पश्चात्, इनके सामान्य तत्व अथवा एक सूत्रात्मकता का अनुसंधान अपेक्षित है । यह कार्य कुछ दुष्कर तथा विवादास्पद अवश्य ही है । मिथिला के नाटकों को कीर्तनियां नाटक कहा जाता है, जिन पर बंगाल के कीर्तन का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है । आसाम में जिन मैथिली नाटकों की रचना हुई उन पर संस्कृत की नाट्य शैलियों का गहरा प्रभाव तो है ही, साथ ही वहां के लोक नाटकों का प्रभाव भी पर्याप्त मात्रा में पड़ा है । नेपाल के मैथिली नाटकों की रचना तो अधिकांशत: संस्कृत की नाट्य शैली पर ही हुई है । इन तीनों धाराओं की विस्तृत विवेचना यथास्थान की जायेगी । यहां पर उन जन-नाटकों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है जिन्होंने मैथिली नाटक को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया है ।

---

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पृ.४६

यात्रा :-

यात्रा और नाटक -------- इन दोनों के बाह्य रूपों में अनेक समानताएं पायी जाती हैं, किन्तु यात्रा में दृश्य-योजना, पर्दा अथवा रंगमंच की व्यवस्था नहीं रहती है । ये नाटक खुले मैदान में ही अभिनीत होते हैं । दर्शकगण भूमि पर ही बैठते हैं । जिस गांव में यह नाटक अभिनीत हो रहा है उस गांव की ओर से सदा - कदा कम्बल-दरी आदि की व्यवस्था भी कर दी जाती है । यात्रा नाटक में अन्य नाटकों की अपेक्षा गीतों की बहुलता रहती है । प्राय: यात्रा के सभी पात्र अपने स्थान पर बैठकर ही गाते हैं और केवल दो या तीन पात्र खड़े हो कर गीत के द्वारा अथवा कथोपकथन के द्वारा आगे होनेवाली घटनाओं की सूचना दे देते हैं । किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी यात्रा और नाटक में मौलिक भिन्नता भी है ।[१] यात्रा का लक्ष्य, साधारणतया, मानव में अन्तर्निहित शूरता, भक्ति, प्रेम आदि की भावनाओं और संवेदनाओं को प्रदर्शित करना है - उन्हें प्रकाश में लाना है । नाटक का उद्देश्य चरित्रों का निर्माण और किसी विशेष घटना अथवा स्थिति के संदर्भ में उनका वर्णन करना अथवा उनकी रेखा चित्र खींचना है । यह संसार अनेक प्रकार के कार्यों का क्षेत्र है और कोई भी कार्यशील व्यक्ति जो इन कार्यों के बीच सांस ले रहा है, वह या तो अपना निर्माण करेगा या अपना विनाश ही कर लेगा । किन्तु उसकी अन्तरात्मा उसके कार्यों के माध्यम से प्रकाशित होती रहेगी । यही कार्य अथवा घटना नाटक की आत्मा है ; और इन कार्यों के बदले भावनाओं और संवेदनाओं का विस्तार ही यात्रा-नाटक के प्रधान उद्देश्य का निर्माण करता है । अतएव, वास्तव में, यात्रा को देश का नाटकीय उपकरण कहा जा सकता है ।

---

१. The Indian Stage Vol. I - P.110

यात्रा की उत्पत्ति ---------

यात्रा का अस्तित्व अत्यंत प्राचीन काल से माना जा सकता है। प्रारंभ में जब उपासक गण अपने उपास्य की वन्दना समूह में करते थे और उनकी विभिन्न लीलाओं का अनुकरण करते थे, तो उस सामूहिक वन्दना और अभिनय को ही यात्रा की संज्ञा दी गयी। 'यात्रा' शब्द प्राय: जगन्नाथ की अनेक यात्राओं से लिया गया है और प्राय: उसीका अनुकरण भी है ; क्योंकि जगन्नाथ में अनेक यात्राएं प्रचलित हैं - जैसे स्नान यात्रा, रथ यात्रा, पुर्नयात्रा आदि। भवभूति ने भी मालती माधव में 'यात्रा' शब्द का प्रयोग उत्सव के अर्थ में किया है, साथ ही उन्होंने इसका पारिभाषिक अर्थ भी दिया है कि यात्रा में काल्पनिक एवं पौराणिक उपाख्यानों का संमिश्रण रहता है और धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों का संनिवेश भी होता है।[१]

यात्रा की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत पाये जाते है। कोई इसे वैदिक काल से भी पूर्व ले जाते हैं तो अन्य विद्वान् इसे बहुत समय पश्चात् खींचकर ले आते हैं। वास्तव में यात्रा और नाटक की उत्पत्ति एक ही मूल से हुई है किन्तु नाटक उच्च - सुसंस्कृत एवं सुसभ्य आर्यों की देन है और वह अपनी रचना एवं रंगमंचीय प्रदर्शन में पूर्णता को पहुंच गया था। जब प्रतिरोधियों के प्रभाव से इसका पतन हो गया तो मध्यकाल में आकर देश में यात्रा आदि रूपों का प्रचलन हुआ और इन रूपोंने पर्याप्त लोकप्रियता भी प्राप्त की। नाटय साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा. ओझा के अनुसार यात्रा नाटक की शैली को देखकर हमें यह प्रतीत होता है कि यह वैदिक काल से भी पूर्व विद्यमान रहा होगा। देव-प्रतिमा के जुलूस के साथ इसका संबंध इस बात का प्रमाण है कि यह

----

१. The Indian Stage Vol. I - P.110

नाटक मानव इतिहास के उस युग में प्रचलित हुआ होगा, जब संसार की विभिन्न जातियां प्रारंभ में अपने उपास्य देव की प्रतिमाएं जुलूस के रूप में निकाल कर नृत्य और संगीत के साथ अभिनय किया करती थीं। हमें मैसोपोटामिया के प्राचीन इतिहास से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ईसा के चार सहस्त्र वर्ष पूर्व वहां की सुमेरजाति में इसी प्रकार देव प्रतिमा के जुलूस के साथ नाटक प्रचलित था। अतएव इसी सिद्धान्त को मान लेने में क्या आपत्ति हो सकती है कि भारत के मूल निवासी अपने आराध्य देव की प्रतिमा का जुलूस निकालते समय जिस नृत्य-गीत तथा नाट्य का अभिनय किया करते थे, वही कालान्तर में यात्रा नाम से पुकारा जाने लगा होगा।"१

यात्रा-नाटक की उत्पत्ति चाहे जब कभी भी हुई हो किन्तु इतना सत्य अवश्य है कि वह मुगलशासन से पूर्व प्रकाश में नहीं आ सका। मुसलमानीशासन के समय जब नाटक के रंगमंचीय प्रदर्शन पर प्रतिरोध लगा दिया गया तो समय पाकर यात्रा - जिसमें धार्मिक और पौराणिक उपाख्यानों का संनिवेश था - अस्तित्व में आई।२ हमारे अध्ययन की परिधि में विद्यापति का केवल एक ही नाटक "गोरक्षा विजय" आता है जिस पर प्रसंगानुसार आगे विचार किया जायेगा। उक्त नाटक कीर्तन, चरित्रात्मक एवं शास्त्रीय शैलियों का मिश्रण है। किन्तु विद्यापति की जो पदावली हमें उपलब्ध है उसके अनुशीलन द्वारा यात्रा से संबंधित उपर्युक्त तथ्य को लक्ष्य किया जा सकता है।

---

१. हिन्दी नाटक उद्भव और विकास - पृ. ५३

२. In fact, when a dramatic performance was forhidden under the Mahomedan rule, Jatras dealing with religious and mythological themes, came in to existence.

The Indian Stage Vol. I - P.112

यात्रा नाटक के प्रकार -------

उपर्युक्त पर्यालोचना से यह नि:संदेह कहा जा सकता है कि यात्रा का रूप अति ही प्राचीन है । इसके विषय समय-समय पर बदलते रहे ; कभी किसी देव विशेष की लीलाओं को लेकर उसका अभिनय होता रहा, तो कभी देवियों की असुर संहारक शक्तियों को प्रदर्शित कर जनसमूहो में श्रद्धा और आश्चर्य का भाव उत्पन्न होता रहा ।

प्राचीन यात्रा - जो बंगाल में प्रचलित थी - में शक्ति सम्प्रदाय एवं शक्ति की पूजा - अर्चना की ही प्रधानता थी ।[१] उस समय इनका इतना अधिक प्रभाव रहा कि वह नाट्य साहित्य के एक अंग के रूप में ही स्थान पा गयी । मार्कण्डेय पुराण के आधार पर इस शक्ति यात्रा का अभिनय होता था । दुर्गा सप्तशती में वर्णित देवी के विभिन्न चरित्रों का अनुकीर्तन किया जाता था । किन्तु शनै: शनै: वैष्णव धर्म का प्रचार और प्रसार होता गया और शक्ति का स्थान विष्णु - कृष्णने ले लिया । जय देव, विद्यापति और चंडीदास के कृष्ण की लीलाओं से संबंधित पदोंने यात्रा के क्षेत्र में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी । इन गीतों में कुछ नाटकीय तत्व - कथोपकथन आदि - विद्यमान थे और यात्रा में गीति तत्व का प्राधान्य होने के कारण, इन गीतों को अपनाने में सुविधा हुई होगी । और इसी कारण सम्भवत: इन गीतों के आधार पर कृष्ण यात्रा का इतना प्रचार होता गया ।

जबतक शक्ति का प्राधान्य रहा तब तक यात्रा को 'यात्रा' शब्द से ही अभिहित किया जाता रहा ; किन्तु कृष्ण की लीलाओं के समावेश के पश्चात् इसी यात्रा को 'कृष्ण यात्रा' के नाम से पुकारा

----

१. Jhid P.112

जाने लगा । श्री चैतन्य देव के प्रभाव से जब वैष्णव धर्म का प्रचार और प्रभाव बढ़ने लगा तो केवल कृष्ण यात्रा ही विकास के उच्चतम शिखर तक पहुंच पायी । उस समय बंगाल में एक लोकोक्ति प्रचलित हो गयी कि कृष्ण के विना कोई भी गीत हो ही नहीं सकता है ।[१] गीत गोविन्द की रचना से पूर्व शक्ति यात्रा, चण्डी के गीत और मनशा के गीत ही बंगाल में प्रचलित रहे । किन्तु गीत गोविन्द के प्रभाव से कृष्ण-लीला अत्यंत लोक-प्रिय बन गयी और इस लीला के विकास के साथ इस यात्रा का नाम ही "कालियदमन" पड़ गया । "बंगदर्शन"[२] के अनुसार यात्रा का यह कालियदमन नाम चार सौ वर्षों तक प्रचलित रहा, अर्थात चैतन्यदेव के समय से इसका प्रचलन हुआ और राजा राममोहन राय के पश्चात् ही इसकी ख्याति मिट गयी ।

बंगाल के कुछ आन्तरिक संघर्ष के कारण इस यात्रा की ख्याति मिट गयी और इसके स्थान पर गोविन्ददासने एक नई शैली की यात्रा का प्रचार करना शुरू किया । पहले की यात्राओं में भगवान के गीत गाये जाते थे, उनकी लीलाओं का अनुकरण किया जाता था तथा राधा-कृष्ण के विरह-मिलन के प्रसंगों का अभिनय किया जाता था । किन्तु नयी शैली की यात्रा में भगवत् लीलाओं के स्थान पर सांसारिक मनुष्यों की प्रेम लीलाओं का अभिनय और प्रदर्शन होने लगा । उस समय नल दमयन्ती और विद्या सुन्दर यात्रा - जिसे ऐमेच्योर यात्रा कहते थे - की ही प्रसिद्धि बढ़ने लगी । इन कारणों से यात्रा अब केवल

---

१. When Vaishnavism spread under the influence of Shri Chaitanya, then alone Krishna Jatras reached their fullest development, and form that came the adage, "Kanu bina Geet nai". (Indian Stage P.113)

२. Bangadarsan No.1289 - Quoted in the Indian Stage Vol. I - P.114

मनोरंजन के साधन मात्र रह गयी और शनै: शनै: इसमें अश्लिल शृंगार का समावेश होने लगा । ऐन्द्रिक शृंगार इस सीमा तक पहुंच गया कि पिता-पुत्र एक साथ बैठकर इसे देखने में लज्जा का अनुभव करने लगे । इस घोर शृंगारिकता को देखकर बंकिमचंद्रने "बंगदर्शन" १ में लिखा कि आजकल हम विदया सुन्दर के बढ़ते हुए प्रभाव को स्पष्ट देख रहे हैं । जब विदया अश्लिल मुद्रा बनाकर घोर शृंगारिक गीत गाती है तो उन गीतों का हमारे समाज की नवयुवतियों पर कितना कुप्रभाव पड़ सकता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

इसके पतनका दूसरा कारण यह भी हुआ कि अच्छे-अच्छे शास्त्रीय संगीतकार इसमें प्रवेश करने लगे और गाते समय - कभी-कभी तो छोटे कथोपकथन के पश्चात् ही - इस रूप में आलाप लेने लगे कि मनोरंजन के लिये एकत्रित जनसमूह का धैर्य छूटने लगता था और वे अन्य मनस्क हो कर या तो शोर मचाने लगते थे या उठकर चले जाते थे ।[२] इन कारणों से इस यात्रा का धीरे धीरे थियेटर में विलयीकरण हो गया ।

कीर्तनियां

कीर्तन शब्द से ही स्पष्ट हो जाता है कि उपासक अपने उपास्य की प्रार्थना भावविभोर होकर करता है ; वह अपने उपास्य के गुणों का गान करता हुआ अपनी रक्षा के लिये भी प्रार्थना करता है । इस कीर्तन की प्रारंभिक अवस्था में अभिनय का समावेश नहीं रहा होगा ; किन्तु ज्यों ज्यों भक्तों की संख्या उस मंडली में बढ़ती गयी होगी, वे लोग हाथ में करताल, इकतारा आदि वादय यंत्रों को ले कर अपने

---

१. Ibid P.133

२. Ibid P.135

उपास्य की लीलाओं का अनुकरण कर नयनाश्रु बहाते हुए श्रद्धा - विह्वल हो जाते रहे होंगे। धीरे - धीरे उस उपासक विशेष की ख्याति बढ़ने लगी होगी और उसके अनुकरण पर दूसरे उपासक भी उसी तरह की चेष्टाएं करने लगे होंगे। इस प्रकार उस नाम संकीर्तन में भी धीरे धीरे असंस्कृत अभिनय का समावेश होता गया, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण हम आज भी ख्यातनामा कीर्तन मंडली में देख सकते हैं।

कीर्तन की प्रारंभिक अवस्था में केवल उपासना संबंधी गीत ही गाये जाते थे। इसका क्षेत्र सर्वशक्तिमान के गुणों -- दयालुता, प्रेम, भक्तवत्सलता, सहृदयता, क्षमाशीलता आदि - की प्रशंसा तथा मानव की इच्छाओं, कामनाओं एवं त्रिविध एषणाओं की निस्सारता और इस भौतिक जगत् की वस्तुओं की क्षण भंगुरता के वर्णन तक ही सीमित था। मनोविकार को जागृत करनेवाले अथवा ऐन्द्रिय भावनाओं को उत्तेजित करनेवाले वाद्य यंत्रों का प्रयोग इस कीर्तन में वर्जित था। भक्तगण किसी खुले स्थान पर एकत्रित होते थे और हाथों में करताल, झाल, मजीरा, इकतारा, सारंगी, खुरी आदि साधारण वाद्य लेकर गाते गाते भक्ति रस में लीन हो जाते थे।

इस तरह का कीर्तन पहले स्त्रियां ही किया करती थीं, पुरुषों का आना वर्जित था। ये स्त्रियां प्राय: नीच - कुलोत्पन्न और अप्रतिष्ठित समाज की होती थीं। ये बहुधा अपने जीवन से निरुत्साहित होकर अथवा जीवन की एक रसता से ऊबकर, या कभी तो अपने मलिन जीवन के त्याग से भक्ति भाव से प्रेरित होकर और कभी केवल कला के प्रदर्शन के लिये कीर्तन की शरण लेती थीं।[१]

---

१. This form of song was at first confined to female singers - a class of demimonde who gave up their unclean life, some times for the sake of art, some times out of devotion, but more often out of ennui at the monotone of their lives.

The Indian Stage P.155

एक अन्य प्रकार का भी भी कीर्तन प्रचलित चला आ रहा था, जिसमें प्रारंभ से ही कुछ अंशों में अभिनयात्मकता विद्यमान थी तथा आरंभ में उनमें स्त्रियां भाग लेती थीं। यात्रा के प्रभाव के कारण लोक अभिनय का यह रूप पनप नहीं सका। किन्तु कालान्तर में बंगाल में राजनीतिक परिवर्तन ऐसे हुए कि उनके कारण अन्य लोक-नाट्यों के साथ साथ कीर्तन का भी प्रचार और प्रसार बढ़ा। मुसलमानी शासन के क्रमश: अस्तगंत होने पर ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रभाव बढ़ने लगा। विदेशी लोग यहां की लोक परम्पराओं के प्रति आकर्षित हुए। परिणाम स्वरूप दबी हुई परम्पराएं पुन: प्रकाश में आने लगीं और बानक्षरम बैरागी के सत्प्रयास से कीर्तन बड़े जोर-शोर से आगे बढ़ने लगा।[१]

यात्रा के समान ही इसकी प्रारंभिक अवस्था में शक्ति के गीत ही अधिकांश में गाये जाते थे। किन्तु वैष्णव धर्म के अत्यधिक प्रचार और प्रसार तथा उसके बढ़ते हुए प्रभाव एवं लोकप्रियता के कारण कीर्तन में भी विष्णु के गीत गाये जाने लगे। पौराणिक उपाख्यानों के आधार पर वैष्णव कवि अनेक प्रकार के गीतों की रचना करते थे जिनका बड़े जोर के साथ कीर्तन होने लगा।

शनै: शनै: वैष्णव कवियों के गीतों की भाषा जटिल होने लगी और उसमें काव्यात्मकता की ओर विशेष ध्यान दिया जाने लगा। इस कारण साधारण जन समाज इसे समझने में असमर्थ होने लगा। उसी समय प्रेमचंद नाम के वैष्णव भक्तने उन्हीं पदों को कुछ सरल भाषा में रूपान्तरित करी मधुरकंठ से गाना शुरू किया जिससे उनकी ख्याति बढ़ने लगी। इनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे उन पुराने पदो में

---

१. The Indian Stage Vol. I - P.117

ही कुछ ग्रामीण बोलचाल के शब्द मिश्रित कर देते थे जिससे उसमें एक विचित्र प्रकार की मिठास आ जाती थी और जनता उसे बहुत पसन्द करती थी । सुमधुर कंठ के कारण इनके गीतों की लोकप्रियता बढ़ने लगी और यह इस सीमा तक पहुंच गयी कि इस कीर्तन में स्त्रियां भी भाग लेने लगी । इसके पूर्व स्त्रियों का कीर्तन की इस शैली में समावेश नहीं था ।[१]

जैसा कि कहा जा चुका है कि इस कीर्तन में भी कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का समावेश होने लगा । जयदेव और विद्यापति के कोमलकान्त पदावलीने इतनी लोकप्रियता प्राप्त कर ली थी कि उनके पदों का कीर्तन कर भक्त अघाते नहीं थे । प्रारंभ में जहां इसमें केवल सर्व शक्तिमान की दयालुता, परोपकारिता, क्षमाशीलता आदि गुणों का गान होता था, वहीं अब जयदेव और विद्यापति के प्रभाव के कारण राधा-कृष्ण की युगल मूर्ति के आध्यात्मिक प्रेम का गान होने लगा । प्रेम के प्रत्येक पक्ष पर पद उपलब्ध रहने के कारण इन विषयों के भी कीर्तन होने लगे । मनोभावों को उत्तेजित करनेवाले वादय यंत्रों का प्रयोग वर्जित था किन्तु अब उनका भी प्रयोग होने लगा ।

इस कीर्तन का आकर्षण, गाते समय, उपयुक्त उपज के प्रयोग में है । जो गायक कीर्तन करते समय तत्क्षण ही प्रत्युत्पन्न बुद्धि से उत्तेजक उपज का जितना अधिक प्रयोग करता है, वह उतना ही प्रशंसा का पात्र बनता है ।[२]

कीर्तनियां नाटक की मूल प्रेरणा इसी कीर्तन से है । जिस समय मिथिला और बंगाल में चैतन्य महाप्रभु की वाणी कीर्तन द्वारा कृष्ण

----

१. The Indian Stage Vol. I - P.120

२. Ibid.

लीला को उत्कर्ष प्रदान कर रही थी, उन्हीं दिनों नेपाल के दरबारों की गीति-नाट्य परंपरा के साथ मिथिला की जनता में कीर्तनियां का अभ्युत्थान हुआ । इस शैली के नाटकों में **शास्त्रीय एवं लौकिक** दोनों के ही तत्व विद्यमान हैं ।[१] इन नाटकों में वर्णित राधाकृष्ण विषयक विभिन्न लीलाओं पर जयदेव के गीत गोविन्द का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है जो परवर्ती अध्यायों के विवेचन से प्रकट है ।

ओजापाली ---------

आसाम में अभिनय शब्द का प्राचीन पर्यायवाची शब्द "भावना" है, जिसका मूलरूप "भाव" को माना जा सकता है । इस शब्द का अर्थ प्रदर्शन अथवा अनुकरण से लिया जाता है जिसका प्रत्यक्ष संबंध हर्ष-शोक के संचारी भावों से है । आसाम के व्यावसायिक "ढुलिया"[२] के प्रदर्शन को भी भाव कहा जाता हैं । इस प्रदर्शन में मुख्य रूप से हास्य और श्रृंगार रस को ही उत्तेजना मिलती है और कभी कभी इसमें वीभत्स रस का भी प्रदर्शन कर दिया जाता है । कालान्तर में इसमें धार्मिकता और सामाजिकता का समावेश हो गया और इसकी मंडली विभिन्न धार्मिक तथा सामाजिक उत्सवों एवं त्यौहारों पर अपना अभिनय दिखाने लगी । इस मंडली में ऐसे ही कुशल व्यक्तियों का समावेश होता है जो छद्मवेश धारणकर नाच गा सके तथा रस्से पर अपनी कला का प्रदर्शन दिखा सके । आसाम के विद्वानोंने इस प्रदर्शन को मुख्य रूप से चार भागों में बांटा है -- बांसुरी, झांझ-मजीरा और ढोलक के साथ संगीत, छद्मवेषी प्रदर्शन, संगीत और नृत्य के साथ छद्म नृत्य, और नृत्य-गीत के साथ हास्यप्रद घटनाओं का अभिनय ।[3] ढुलिया

---

१. डा. श्याम परमार - लोकधर्मी नाट्य परंपरा - पृ.५६

२. Ankavali - Introduction P.III By K.R. Medhi

३. Ankavali - Introduction P.V By K.R. Medhi

का असंस्कृत रूप यह प्रमाणित करता है कि यह प्रदर्शन ही आसाम के आदिम लोकाभिनय का मूल रूप है । आगे चलकर इसी से "ओजापाली" का विकास होता है जिसने उस समय के सर्वश्रेष्ठ नाट्यकार शंकरदेव को अधिक अंशों में अनुप्राणित किया ।

"ओजापाली" में सर्वप्रथम नान्दीगीत गाया जाता है जिसे चार या अधिक व्यक्ति मिलकर सस्वर गाते हैं । यह गीत प्राय: धार्मिक ही हुआ करता है । साधारण जन के दैनिक जीवन की घटनाएं ही इस प्रदर्शन की कथावस्तु होती है । इसका मुख्य गायक "ओजा" कहलाता है और उसके सहायक "पाली" । नायक अर्थात् ओजा आगे कहता है और सहायक उसी पद को दुहराते हैं । बीच-बीच में कथोपकथन भी चलता रहता है और ओजा कथावस्तु की रूपरेखा, आगे होनेवाली घटनाओं की सूचना सामाजिकों को देता रहता है ।[१]

नृत्य इस प्रदर्शन का प्रधान और अनिवार्य अंग है । इसमें इस तथ्य को स्वीकार कर लिया गया है कि ईश्वर और नृत्य के बीच अविभाज्य संबंध है ।[२] अधिक संभव है कि शिव और कृष्ण के नृत्य के कारण ही इसमें इसका समावेश हुआ हो । इसका नृत्यकार बड़ा ही कुशल होना चाहिये क्योंकि उसे विभिन्न मुद्राओं और चेष्टाओं के माध्यम से ही गीतों का तात्पर्य दर्शकों को समझाना पड़ता है । अतएव स्वीकार किया जा सकता है कि इस प्रकार के प्रदर्शन में पूर्ण रूप से नाटकीय तत्त्व विद्यमान हैं । इसी ओजापाली प्रदर्शनने आगे चलकर आसामी नाटकों के विकास में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया ।

---

१. Ankianat - Introduction - P.IX By B.K. Barua

२. Ankavali - Introduction - P.VII By K.R. Medhi

मैथिली नाटक का उद्भव --------

प्रत्येक समय का साहित्यकार तत्कालीन और पूर्ववर्ती लोक रूढ़ियों से प्रभावित होता है और जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि शास्त्रीय परम्परा और जन परम्परा बराबर एक दूसरे को प्रभावित करती आ रही हैं। साहित्यकार लोकप्रियता के लोभ को संवरण नहीं कर पाता ; इसलिये वह तत्कालीन जन रूचिको ध्यान में रखकर ही अपनी रचना प्रस्तुत करता है। इस तथ्य से यह निष्कर्ष नहीं निकला जा सकता है कि उस साहित्यकार की मूल प्रेरणाका स्त्रोत वही जनरूचि अथवा जन नाट्य ही है।

साहित्यकार इन रूपों से प्रभावित अवश्य होता है, परन्तु उसकी प्रेरणा का मूल स्त्रोत वही परिनिष्ठित, सुदृढ़ और समृद्धशाली परम्परा होती है जो सहस्त्राब्दियों के अनेक विप्लव, संघर्ष और उथल-पुथल के होते रहने पर भी अविच्छिन्न रूप से विकसित होती चली आ रही है। इस ठोस परम्परा की अवहेलना करके कोई भी साहित्यकार किसीअप्रत्याशित निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकता है। अंग्रेजीके सुप्रसिद्ध लेखक "हूकसले" ने "सुपरस्टीशन्स" नाम के लेख में बताया है कि प्रत्येक समय तथ्य एक ही रहता है, रूढ़ि और रीति-रिवाज एक ही रहते हैं किन्तु कहने के ढंग और व्यवहार में अन्तर आजाता है। मूलभूत तत्व सर्वदा एक ही रहता है किन्तु देश-कालानुसार उसके रूप और आकार-प्रकार में अन्तर अवश्य आजाता है।[१]

---

१. The forms change but the substance ramains.

इन कारणों से किसी भी कार्य की उत्पत्ति वहीं से मानी जा सकती है जहां से उसे मौलिक प्रेरणा मिली है ; अन्य कारण उसके सहायक हैं - उसके विकास में आवश्यक योगदान देनेवाले हैं। यही बात मैथिली नाटक के संबंध में कही जा सकती है।

संस्कृत की उस सुविकसित नाट्य परम्परा का मार्ग दो कारणों से अवरूद्ध हो गया। प्रथम तो मध्यकाल में संस्कृत जन भाषा नहीं रही, इसको समझने वाले कुछ शिष्टवर्ग ही थे तथा यह परम्परा अपरिवर्तनीय और रूढ़िगत हो गई। दूसरी बात यह हुई कि मुसलमानी शासन में जहां एक ओर ललितकला, संगीतकला आदि का विकास हुआ, वहीं दूसरी ओर रंगमंच को जड़मूल से विनष्ट कर दिया गया। उस समय जनता इतनी त्रस्त थीं कि उसे रंगमंच की ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं था। वे तो सर्वात्मा की शरण में जाकर सारी दुनियां को भूल जाते थे। शासक वर्ग का ध्यान केवल लूट-मार पर ही केन्द्रित था। इसका भी मुख्य कारण यह था कि वे रंगमंचीय अभिनय की परम्परा से अनभिज्ञ थे, क्योंकि उनके यहां इस तरह के सुव्यवस्थित अभिनय की परम्परा नहीं थी। इस अवस्था में संस्कृत के नाटकों का पतन स्वाभाविक ही था। किन्तु फिर भी रूपक के अन्य असंस्कृत प्रभेदोंने नाटक का स्थान ग्रहण कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया और धीरे जन-नाट्यों को प्रभावित करना शुरू किया। इसके लिये इन्हें अपने कुछ सिध्धान्तों या रूपों का त्याग भी करना पड़ा।[१] यदि संस्कृत नाट्य साहित्य के विभिन्न रूपों के क्रमिक विकास का गंभीरता पूर्वक परीक्षण किया जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जिन कुछ रूपों का आलेखन और अभिनय लेखकों और सामाजिकोंने किया,

----

१. The Indian Theatre - P.53 By R.K. Yajnik

वे रूप नियमित रूप से अनुप्राणित होते रहे । शास्त्रीय नाटक के अतिरिक्त भाण और प्रहसन का भी विकास स्वतंत्र रूप से इसी परंपरा के साथ होता रहा । इन दोनों रूपों के मुख्य लक्षणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकालीन असंस्कृत एवं अश्लील लोक-मनोरंजन अति प्राचीन नाट्य रूपों के परम्परागत वंशज ही हैं ।[१] मध्यकालीन नाटकों पर जन-नाटकों के प्रभाव और कुछ तत्वों के मिश्रण के बावजूद भी उनकी रचना और अभिनय में उसी प्राचीन और शास्त्रीय परम्परा का मूल तत्व निहित है तथा उसी का अनुकरण भी किया गया है । जैसा कि अभी हम देखेंगे कि मैथिली नाटक का संबंध और उसका मूल प्रेरणा स्त्रोत यही प्राचीन और शास्त्रीय परम्परा है ।

पूर्ववर्ती पृष्ठों पर संकेत किया जा चुका है कि मैथिली नाटक अनेक कारणों से तीन विभिन्न धाराओं में विभक्त हो जाता है । इन तीनों धाराओं के मूलभूत तत्वों के अनुसंधान के पश्चात् यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि मैथिली नाटक का उद्भव स्थान संस्कृत नाट्य शैली ही है, - यह इसका वंशज ही है । ज्योतिरीश्वर का "धूर्त समागम" प्रहसन केवल मैथिली का ही नहीं अपितु समस्त उत्तर भारतका प्राचीनतम नाट्यरूप है । इसकी विवेचना तो यथास्थान की जायेगी, किन्तु यहां इतना ही संकेत कर देना पर्याप्त होगा कि नाट्य शास्त्र में प्रहसन के जो लक्षण निर्धारित किये गये हैं, उन सबका निर्वाह इसमें सम्पूर्ण रूप से हुआ है । विद्यापति के "गोरक्ष विजय" की रचना भी संस्कृत नाट्यशैली पर ही हुई है । लक्षणों के अनुसार नाटकों की रचना का तात्पर्य यदि उनके कठोर निर्वाह से लिया जाय तो कालिदास

---

१. The Indian Theatre - P.52

की सर्वश्रेष्ठ कृति अभिज्ञान शाकुन्तलम् भी खरा नहीं उतरेगा, क्योंकि उसमें भी सम्पूर्ण रूप से लक्षणों का निर्वाह नहीं हो पाया है। दूसरी बात यह भी है कि इस काल में आकर जब संस्कृत-नाट्य शैलियोंने जन-नाट्यों को प्रभावित करना शुरू किया तो इन्हें अपने कुछ सिध्धान्तों का त्याग भी करना पड़ा। अतएव "गोरक्षा विजय" में नाटक के अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तत्वों का समावेश न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है। परवर्ती कीर्तनियां नाटकों के संबंध में भी यही बात कही जायेगी जो परवर्ती अध्यायों के विवेचन से प्रकट है।

मुसलमानी शासन स्थापित हो जाने के कारण, मिथिला में, विदयापति के पश्चात् बहुत समय तक नाटक का स्त्रोत अवरुद्ध हो गया। मिथिला के राजाने नेपाल में जाकर अपने धर्म की रक्षा की और वहीं अपने राज्य की भी स्थापना की। यहां के अनेक विद्वान् उस दरबार में आमंत्रित हुए और इन लोगोंने वहां जाकर अनेक प्रकार के ग्रंथों का प्रणयन किया। राज्याश्रय प्राप्त होने के कारण, सोलहवीं शताब्दी में मैथिली नाटक पूर्णता को पहुंचने लगा। नेपाल के मैथिली नाटकों की रचना भी संस्कृत की शैली पर ही हुई; इनका आधार संस्कृत नाट्य-शैली ही था। "नियमित" मैथिली नाटकों की रचना - जिसकी रूपरेखा संस्कृत नाट्य शैली थी किन्तु भाषा मैथिली रही - अनेक विद्वानों द्वारा होने लगी।[१]

आसाम के अंकिया नाटिका भी मूल स्त्रोत संस्कृत नाट्य शैली ही है। वहां के प्रथम नाट्यकार शंकर देव अनेक स्थानों की यात्रा कर चुके थे और उन स्थानों के जन-नाट्य रूपों से आकर्षित भी हुए थे।

---

१. मैथिली साहित्यक इतिहास - पृ.१६६

यात्रा के उपरान्त इन्होंने वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये साधन के रूप में इन नाटकीय रूपों को ही अपनाया । वे विद्यापति की "देसिल वयना" की लोकप्रियता देखचुके थे, इसलिये इन्होंने इसी भाषा के पुट को अपने नाटकों में स्थान दिया । इनके नाटकों पर उत्तर भारत के प्राय: सभी नाट्य रूपों का प्रभाव लक्षित होता है । इतना होने पर भी उनके नाटकों की आत्मा संस्कृत नाट्यशैली ही है । यह अंकिया नाट एकांकी होता है और संस्कृत-एकांकी से पर्याप्त समता रखता है । इसमें गीतों का बाहुल्य रहता है और प्राय: चार-पांच भटिमाएं होती हैं जो संस्कृत नाटकों की भांति नाटक की विभिन्न संधियों का काम दे सकती हैं ।[१] प्रो. बरूआ लिखते हैं कि असमिया एकांकी पर संस्कृत के नाट्य शास्त्र और नाटक का गहरा प्रभाव है । शैली, शिल्प विधान आदि में भी नाट्य-शास्त्रका स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है - खासकर नांदी, सूत्रधार, पूर्वरंग आदि की योजना में तो उसीका अनुकरण है ।[२]

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट प्रामाणित होता है कि मैथिली नाटक की विभिन्न धाराओं को एक सूत्र में गुंथित करनेवाली संस्कृत नाट्य शैली ही है । अतएव मैथिली नाटक का उद्भव किसी जन-नाट्य परम्परा से न होकर संस्कृत-शैली से ही हुआ है, पश्चात् विभिन्न रूपों के संमिश्रण से इसके विविध रूप विकसित हुए हैं ।

---

१. भारतीय नाट्य साहित्य - सं. डो. नगेन्द्र - पृ. ४८३

२. Ankia Nat - Introduction - P.XI

मैथिली नाटक का रूपात्मक वर्गीकरण और काल विभाजन -------

मैथिली नाटकों का वर्गीकरण प्रधान रूप से दो शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा सकता है - प्रथम शैली के अनुसार तथा दूसरे काल क्रमानुसार ~~विभाजन~~ ।

१. शैली के अनुसार ------

क - परम्परा के अनुसार -----

१. (अ) नियमित मैथिली नाटक ----- इसके अन्तर्गत वे नाटक आते हैं जिनकी रचना संस्कृत की नाट्यशैली पर हुई है अथवा संस्कृत के नाटक के समान कथोपकथन संस्कृत या प्राकृत में हैं तथा गीत मैथिली में ।

(आ) अनियमित मैथिली नाटक ----- इस शैली के नाटकों में केवल मैथिली के ही गीत और पद का प्रयोग हुआ है । संस्कृत या प्राकृत का व्यवहार बहुत ही कम पाया जाता है ।

(इ) आधुनिक मैथिली नाटक ----- इस काल के नाटकों में संस्कृत एवं अंग्रेजी दोनों ही शैलियों का अनुकरण है ।[१] समस्या नाटक, एकांकी, रेडियो एकांकी आदि की भी रचना इस युग की विशेषता है ।

ख - रचना-विधि के अनुसार ------

(अ) पूर्व कीर्तनियां नाटक ----- इसके अन्तर्गत मैथिली "धूर्त समागम" और "गोरक्ष विजय" को रखा जा सकता है ।

(आ) कीर्तनियां नाटक -------- संस्कृत नाटकों में मैथिली गीतों का समावेश, भगवान की स्तुति और गीति तत्व का मिश्रण इसकी विशेषता है ।

---

१. A history of Maithili Literature - P.82

(इ) अंकिया नाटक ------ वैष्णव धर्म के प्रचार के लिये इसके रूप को अपनाया गया । कृष्ण के विभिन्न चरितों के माध्यम से जनता में धर्म का प्रचार ही इसका मुख्य उद्देश्य था । यह अधिकांश में संस्कृत की नाट्य शैलियों से प्रभावित है किन्तु तत्कालीन जन-नाट्यों का भी प्रभाव पड़ा है । इसकी विवेचना यथास्थान की जायेगी ।

(ई) नेपाल का मैथिली नाटक ------- संस्कृत नाटकों के बीच मैथिली पद्य के समावेश से इसका प्रारंभ होता है । किन्तु पश्चात् इन नाटकों से संस्कृत और प्राकृत को बहिष्कृत कर दिया जाता है । यहां कई गीति-नाट्यों की भी रचना हुई और तांत्रिक पद्धति पर रंगमंच की पूजा-विधि का विधान भी बताया गया । नेवारी भाषा का भी प्रयोग स्थान-स्थान पर मिलता है । उचित स्थान पर विवेचना प्रस्तुत की जायेगी ।

(उ) आधुनिक मैथिली नाटक ------- पूर्व कथनानुसार ।[१]

२. कालक्रम के अनुसार -------

डा. जयकान्त मिश्रने[२] मैथिली साहित्य के इतिहास को तीन भागों में विभाजित किया है -----

(१) प्राचीन काल - १३०० ई. से १६०० ई. तक

(२) मध्यकाल - १६०० ई. से १८६० ई. तक

(३) आधुनिक काल - १८६० ई. से -----

---

१. मैथिली साहित्यक इतिहास - पृ. ४६

२. A History of Maithili literature Vol.I - P.73

६२

डो. उमेश मिश्रने "मनवोध" रचित "कृष्ण जन्म" की भूमिका में मैथिली साहित्य का काल विभाजन इस प्रकार किया है -----

(१) आदिकाल - ११०० ई. से १३०० ई. तक

(२) मध्यकाल - १३०० ई. से १८०० ई. तक

(३) आधुनिक काल - १८०० ई. से ------

किन्तु इस विभाजन से उन्हें स्वयं संतोष नहीं हुआ। अतएव मार्च १९५३ में बिहार राष्ट्रभाषा परिषद के वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष पद से वक्तव्य देते हुए उन्होंने निम्नस्थ काल विभाजन प्रस्तुत किया।

(१) आदिकाल - ११०० ई. से १६०० ई. तक

(२) मध्यकाल - १६०० ई. से १८६० ई. तक

(३) आधुनिक काल - १८६० ई. से १९५० ई. तक[१]

उपर्युक्त काल विभाजनों में से डो. जयकान्त मिश्र द्वारा प्रस्तुत विभाजन के आधार पर ही नाटकों की विवेचना अपेक्षित है।

(अ) प्राचीनकाल ------- इसकाल में देश में धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि अनेक उथल पुथल हो रहे थे, जिन कारण संस्कृत की शास्त्रीय परंपरा विनष्ट हो गयी। किन्तु रूपक के अन्य भेद - जो जन-नाट्य के अधिक समीप थे - विकसित होने लगे। मैथिली का प्राचीनतम नाटक "धूर्त समागम" एवं "गोरक्ष" विजय इसी काल में लिखे गये। आसाम में शंकर देवने भी मैथिली भाषा में अनेक नाटकों की रचना इसी काल में प्रस्तुत की। डो. जयकान्त मिश्रने[२] इनको

---

१. वैदेही - जनबरी-मार्च-१९६३ पृ. ३३-३४

२. A History of Maithili literature Vol.I - P.73

६३

मध्यकाल का माना है ; किन्तु काल विभाजन एवं शंकर देव के काल (१४४६ - १५६८ ए.डी.)[१] को देखते हुए इन्हें प्राचीन काल का ही माना जायेगा । शंकर देव के पट्ट शिष्य माधव देव (१४८६-१५९६)[२] ने भी इसी काल में अपनी रचना प्रस्तुत की ।

गोपाल आतादेव (१५४७-१६११)[३] (१५३३-१६०८)[४] साहित्य के काल विभाजन के अनुसार प्राचीन एवं मध्यकाल दोनों में ही आते हैं किन्तु उनकी रचना का काल प्राचीन काल में ही माना जायेगा । इस प्रकार प्राचीनकाल में नाटक की दो धाराएं हो जाती हैं - मिथिला का नाटक और आसाम का अंकिया नाट ।

(आ) मध्यकाल ----- विधर्मियों के आक्रमण एवं अत्याचार से भयभीत हो कर मिथिला के राजा और अनेक विद्वानोंने नेपाल में जा कर शरण ली । फल स्वरूप वहीं नाटकों की रचना होने लगी और मिथिला में इसका स्रोत बन्द हो गया । बिहार में मुसलमानी शासन पूर्णरूप से स्थापित हो जाने से ये दोनों विजातियां आपस में घुलने-मिलने लगी तथा इनका बाहरी विरोध भी मिटने लगा । हिन्दू जनता भय त्रस्त होकर भगवान की शरण ढूंढने लगी । इस कारण बंगाल के कीर्तन से प्रभावित हो कर मैथिल विद्वानोंने वहां की नाट्य परम्परा को पुनर्जीवित करना प्रारंभ किया । उमापति उपाध्याय (१८ वीं शतिका पूर्वार्द्ध) - जिनके समय से कीर्तनियां नाटक शब्द प्रयोग में आया[५] के बाद इस नाटक

---

१. Ankia Nat - Introduction P.xxxii
and Ankavali - Introduction P.Lviii

२. Ankia Nat - Introduction P.xxxxii
and Ankavali - Introduction P.Lxxxiv

३. Ankia Nat - Introduction - P.xxxxv

४. Ankavali - Introduction - P.Lxxxix

५. उमापति रचित रूक्मिणीहरण की भूमिका - पृ.१४

की धारा अविराम रूप से प्रवाहित होने लगी । इस प्रकार मध्यकाल में भी मैथिली नाटकों की धारा दो विभिन्न स्रोतों में - नेपाल का नाटक और कीर्तनियां नाटक -- बट गयी ।

(ङ) आधुनिक काल ----- मध्यकाल से चली आती हुई कीर्तनियां नाटक की परम्परा से ही इस युग के नाटक का प्रारंभ होता है । किन्तु पश्चात् अनेक राजनीतिक, सामाजिक तथा भाषिक आन्दोलन और हिन्दी एवं बंगला के माध्यम से अंग्रेजी नाट्य शैली के प्रभाव के कारण नाटकों की रचना विभिन्न शैलियों में होने लगी - जिसकी चर्चा अगले अध्यायों में की जायेगी ।

मैथिली नाटकों का क्रमिक विकास दिखाने के लिये काल-क्रमानुसार विभाजन ही अधिक उपयुक्त और समीचीन है । अतएव अगले अध्यायों में नाटकों की विवेचना इसी विभाजन के अनुसार की जायेगी ।

पूर्ववर्ती काल विभाजन तथा उनके अंतर्गत आनेवाली रचनाओं के संक्षिप्त विवरण से प्रकट है कि मैथिली नाटकों की एक समृद्ध एवं दीर्घकालीन परंपरा है, जो कि हिन्दी नाट्य-परंपरा के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान करती आयी है । परवर्ती अध्ययनों के विवेचन में हम देखेंगे कि मैथिली नाट्य-परंपरा की यह देन भले ही अब तक उपेक्षित रही हो किन्तु साहित्यिक अध्ययन की दिशा में वह मिथिला की मनीषा अपनी सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं सामाजिक परंपरा को लेकर एक सुदीर्घकालीन एवं तेजस्वी कड़ी को जोड़ रही है ।

---ooo---